**जनपद का पता**

व्यवस्थापक—"जनपद"
कुलपति निवास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस-५

# जनपद

हिन्दी जनपदीय परिषद् का त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष १ ] काशी : माघ, संवत् २००६ [ अंक २

# जनता का जीवन-दर्शन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतवर्ष में सभी विद्याएँ—यहाँ तक कि काव्य और दर्शन भी सम्मिलित परिवार के समान पारस्परिक सद्भाव लेकर रहती आई हैं। पश्चिम के समान उनमें एक दूसरे के विरुद्ध प्रवेश-निषेध का भाव कभी नहीं रहा। प्लेटो ने अपने आदर्श गणतन्त्र में कवियों के लिये स्थान नहीं रखा, किन्तु भारतवर्ष में दर्शन ने प्रायः सदैव ही काव्य का आँचल पकड़ा है, क्योंकि जन-जीवन में उसका जीवन्त स्थान था—केवल पण्डितों की पंचायत में नहीं। हमारी परम्परा के अनुसार शङ्कराचार्य न जाने कितनी कविताओं और स्तोत्रों के रचयिता हैं और फिर भी शङ्कर की दार्शनिक प्रतिभा को देखते हुए प्लेटो भी अपनी यूटोपिया से उन्हें निर्वासित नहीं कर सकते। संभव है शङ्कर की अनेक रचनाओं में काव्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन न भी मिले, तथापि कोई भी साहित्यरसिक दार्शनिक शङ्कर के काव्य प्रयासों के लिये उन्हें अभियुक्त नहीं ठहराता।

वस्तुतः मारे देशवासियों के दृष्टिकोण से काव्य अनायास ही दार्शनिक की सहज-स्फूर्त प्रेरणा का फल है, उसकी तर्कशक्ति के आलोकित होने का स्वाभाविक परिणाम है। हमारे देश का अद्वितीय महाकाव्य महाभारत उन विचित्र चरित्रों का एक अनोखा अरण्य तो है ही, जिन चरित्रों को जीवन की अगणित मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में रखकर आँका गया है; साथ ही वह इसलिए और भी विशिष्ट है कि उसमें नैतिक, राजनीतिक और दार्शनिक दृष्टियों से जीवन की सूक्ष्मतम व्याख्या की गई है। उदारता का ऐसा मोहक निदर्शन हमारे ही देश में संभव था, जहाँ साहित्य के सभी अंगों में एक अपूर्व समता और मैत्री का भाव विद्यमान था। वस्तुतः महाभारत अपने आपमें एक छोटे-मोटे ब्रह्माण्ड की तरह है, जहाँ मानव-चित्त के प्रत्येक कृतित्व को आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की तरह अपने जटिल छन्दोनृत्य के प्रदर्शन के लिये अनन्त अवकाश

प्राप्त है। महाभारत किसी कवि-विशेष के दृष्टिकोण को नहीं, बल्कि समग्र जाति के स्वाभाविक मनोभाव को व्यक्त करता है। यह जाति विचारों और अनुभूतियों के गोरखधन्धे के बीच प्रधान आधिकारिक कथानक के विपुल आकर्षण को पकड़े हुए प्रासंगिक कथाओं के बीहड़ में से सानन्द भ्रमण करती हुई निकल जाती है।

भारतवर्ष के इतिहास में मुस्लिम-काल में जो सन्त हुए थे, उनका काव्य कल्पना से देदीप्यमान है। उनका आध्यात्मिक आवेग निर्झर की तरह दर्शन की उन कठोर शिलाओं से निःसृत हुआ है, जो जीवन के चरम प्रश्नों को सुलझाने में—जीवन के परम सत्य-अर्थ के अन्वेषण में—निरन्तर व्यस्त रही हैं। संभव है अपने आपमें यह बात बहुत बड़ी न हो, किन्तु जब हम देखते हैं कि उन सन्तों की बानियाँ केवल शास्त्रज्ञ पण्डितों के समारोह में ही नहीं, बल्कि गाँव-गाँव में गाई जाती हैं और अशिक्षित तथा अपढ़ नर-नारियों की ज़बान पर रहती हैं, तब हमें स्पष्ट समझ में आ जाता है कि दर्शन ने भारतीय जनता के जीवन में प्रवेश कर लिया है, जाति के अवचेतन मानस की गहराई में भी अपनी जड़ें फैला दी है।

बचपन में मैंने एक ऐसे ही गायक से कबीर का यह भजन सुना था :

पानी बिच मीन पियासी<br>
मोंहि सुन सुन आवै हांसी ।।<br>
घर में वस्तु नजर नहिं आवत<br>
बन बन फिरत उदासी ।<br>
आतम ज्ञान बिना जग झूंठा<br>
क्या मथुरा क्या कासी ।।

गायक एक संस्कारवान् हिन्दू था किन्तु उसकी संस्कारभावना ने कबीर की हँसी को उपहास नहीं समझा; मन के सहज दार्शनिक आदर्श और कुशाग्रता से उसने समझ लिया कि मथुरा और काशी के तीर्थों का सांकेतिक महत्त्व होते हुए भी परम सत्य के प्रकाश में इन स्थानों की कोई निरपेक्ष महिमा नहीं। अतएव यद्यपि वह स्वयं इन तीर्थों की यात्रा के लिये उत्सुक था, तथापि इसे भी निःसंशय मानता था कि यदि ब्रह्म को सर्वव्यापी रूप में प्राप्त करने की उसमें शक्ति होती तो अपनी आध्यात्मिक साधना को उद्दीप्त करने के लिये उसे तीरथ-तीरथ भटकना ही क्यों पड़ता। अनादि काल से तीर्थ-पिपासुओं की पद-धूलि से पवित्र इन तीर्थों का उसके निकट उतना ही महत्त्व था जितना कि युग-युग से उच्चरित शास्त्र-वाक्यों की उपादेयता का।

पूर्वी बंगाल का ग्रामीण कवि अपने गीत में इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि विश्व की सत्ता पुरुष के साथ उसके सम्बन्ध की सापेक्षता में ही सत्य है; आकाश और धरती उसकी आँखों से निकलते हैं; कठोरता और सुकुमारता, सरदी और गरमी उसीकी देह की सृष्टि हैं; सुगन्ध और दुर्गन्ध उसी की नासिका से उद्भूत हैं—

**मम आँखि हइते पयदा हइल आछमान् जमीन ।।**
**आमार देह हइते पयदा हइल शक्त आर नरम ।**
**आमा हइते पयदा हइल ठांडा आर गरम ।**
**आमार नासा हइते हइल सब खुशबय—बदबय ।**
**आमा हइतेइ सब उत्पत्ति, हासन राजा कय ।।**

ग्रामीण कवि अपने अन्तःकरण में निहित उस शाश्वत पुरुष के गीत गाता है, जिसे वह अपनी ही आँखों से बाह्य जगत् में आविर्भूत देखता है। कदाचित् इसी प्रकार वेद के गायक ऋषि ने भी अपने अन्तर में निवास करनेवाले पुरुष को सूर्य के अन्तराल में देखा होगा।

ग्रामीण कवि की भाषा में :

**रूप देखिलाम रे, रूप देखिलाम रे ।**
**आमार माझत बाहिर हइया—देखिलाम आमारे ।।**

—मैंने रूप देख लिया, अरे मैंने रूप देख लिया। मेरे ही अन्तर से निकले हुए अपने आपके रूप को मैंने देख लिया।

इन दार्शनिक कविताओं में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि वे अनगढ़ और अनूठी उक्तियाँ हैं—जनता की प्रचलित बोली में लिखी हुई और शास्त्रीय साहित्य के द्वारा अनादृत। जनता उन्हें सुनती है, इस प्रकार जैसे वे उन्हीं में से किसी एक के द्वारा रची गई थीं—जो आज इनके बीच नहीं है—किन्तु जिसके गीतों ने मृत्यु की सदर्प अवज्ञा की है। और फिर भी ये गायक दर्शन शास्त्र के मुँहताज नहीं। कथा प्रचलित है कि जब किसी ऐसे गायक को वैष्णव प्रेमतत्त्व की सुचिंतित व्याख्या सुनाई गई तो उसने बड़ी पीड़ा के साथ गाया : हाय, पुष्पों के वन में यह कौन सोने का पारखी घँस आया है जो कमल के फूल को कसौटी पर घिसकर कसना चाहता है :—

**फूलेर बने के ढुकेछे रे सोनार जहुरी ।**
**निकषे घसये कमल, आ मरि मरि ।।**

बंगाल के बाउल उस विशाल जनसमाज के सदस्य हैं, जो आज की परिभाषा के अनुसार अशिक्षित हैं—जिन्होंने कभी 'मसि-कागद' नहीं छुआ। तथापि उनकी साधना मानव देह सम्बन्धी जटिल और रहस्यमूलक तत्वज्ञान पर आधारित है। ये रमते जोगी मन की मौज में अपने गीत गाते फिरते हैं। ऐसे ही एक गीत की प्रारम्भिक कड़ियाँ मुझे कभी नहीं भूलतीं, जिसे मैंने बरसों हुए रास्ते के किनारे अपनी खिड़की से सुना था : 'अनजाना पंछी जाने-कहाँ से पिंजरे में आया-जाया करता है। अगर पकड़ पाता तो मन की बेड़ी उस पंछी के पावों में पिन्हा देता—'

खाँचार भितर अचिन् पाखी
कमने आसे—जाय।
धरते पारले मनोवेड़ि
दितेम पाखिर पाय ॥

गाँव का यह सहज कवि उपनिषद् के ऋषि के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहता है, वह परम पुरुष, वह अज्ञात पुरुष अवाङ्मनसोगोचर है। तथापि वह अपनी खोज से विरत नहीं होता ; अज्ञात के अन्वेषण को त्याग नहीं देता ; उसके लिये सिद्धि की कोई-न-कोई राह अवश्य वर्तमान है। मुझे अंग्रेज़ी कवि शेली की वे गूढ़ पंक्तियाँ याद आती हैं :

The aweful shadow of some unseen Power
Floats, though unseen, among us, visiting
This various world with as inconstant wing
As summer winds that creep from flower to flower.
Like moonbeams that behiud some piny monntain shower,
It visits with inconstant glance
Each human heart and countenance.

अंग्रेज़ कवि उस अज्ञात सत्य को ही गभीरतम सत्य मानता है और बंगाल के ग्राम्य कवि के गीत में भी उसी अनजाने पंछी—उसी 'अचिन् पाखी'-के पंखों की चञ्चल थिरकन मिलती है। तथापि शेली की कविता केवल कुछ सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिये उपभोग्य है, जबकि बाउल के गान का आस्वाद धरती के लालों—गाँव के सीधे-सादे देहातियों के लिये भी सुलभ है, जो उसके परम रहस्य-रस का पान करते हुए कभी अघाते नहीं।

इसका यथार्थ कारण यही है कि भारतवर्ष में युग-युग से जन-शिक्षा की एक अद्भुत व्यवस्था प्रचलित है—जो आज लुप्त हो जाने के खतरे का सामना कर रही है। हमारे देश के ज्ञानपीठ गुरुकेन्द्रिक हैं जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी समागत होते हैं। ये ज्ञानपीठ उन गंभीर जलाशयों के समान हैं जिनका पानी शान्त और निस्तब्ध है—जिनकी राह दुर्गम है। किन्तु इन ह्रदों का जल वाष्पीकृत होकर, मेघखण्ड बनकर, वायु के पंखों पर उड़ता हुआ, नदी-बन-पर्वतों को पार करता हुआ, देश के सुदूर अञ्चलों में स्थित शस्य-क्षेत्रों को सींचा करता है। पौराणिक काव्यों, प्रचलित अनुश्रुतियों, ग्राम्य नाटिकाओं, कथाओं-आख्यानों और लोकप्रिय गीतों के भाव-गभीर रूपों में ये मेघखण्ड जन-मन को सिंचित करते और उस गहरी चिन्ताराशि से समृद्ध करते हैं, जो मूलतया तत्त्वज्ञान के जटिल और दुर्बोध सिद्धान्तों की उपज है। सांख्य, वेदान्त, योगशास्त्र के गहन विचार जनगण के साहित्यक्षेत्र की सुनहरी फसल के रूप में उन लोगों के द्वार पर पहुँच जाते हैं, जिन्हें कभी उन मूल विचारों के उत्स तक जाने का अवकाश, सुविधा, सुयोग या दुःसाहस भी नहीं हो सकता। सभ्य समाज के पेंचीदा जीवन-विधान की रक्षा और उसके पोषण के लिये अगणित मानवों को उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये

अपने-आपको नियोजित करना पड़ता है—चाहे वह कोई कितना भी दुर्वह और नीरस क्यों न हो। उनका व्यवसाय उन्हें मानसिक विकास का अवसर नहीं देता। यह विशाल मानव-समुदाय अपने को अन्धा यन्त्रवत् बनाए रखने के लिये लाचार हुआ करता है—जिससे मुट्ठीभर मनुष्य ऊँची चिन्ता कर सकें, अमर शिल्प को जन्म दे सकें, मानव-समाज को उसकी उदात्त आध्यात्मिक चोटियों तक पहुँचाने का कठिन कर्म-सम्पादन कर सकें।

भारतवर्ष ने इन सामाजिक शहीदों की कभी उपेक्षा नहीं की बल्कि उनकी जीवनव्यापिनी अख्यात अंधेरी स्थिति तक प्रकाश का सँदेसा पहुँचाने का प्रयत्न किया है। उसने इसे अपना अनिवार्य कर्त्तव्य समझा है कि इस मानवसमाज को उसकी उपयुक्त और सुपाच्य मानसिक और आध्यात्मिक खूराक पहुँचाई जाय। इस दायित्व को देश ने नाना प्रकार के अनुष्ठानों के माध्यम से सम्पन्न किया है। ये अनुष्ठान बनावटी समाज सेवकों की सुसंगठित वाहिनी द्वारा नहीं सम्पन्न होते, बल्कि हमारे शरीर में दौड़नेवाली रक्तवाहिनियों की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा—एक सहज सामाजिक सन्तुलन-क्रिया के द्वारा—सम्पन्न होते हैं। इसीलिए यह प्रक्रिया अपना मूल कार्य समाप्त करने के बाद भी युग-युग तक चालू रहती है।

किसी समय मैं बंगाल के छोटे-से देहात में था जहाँ के निवासी अधिकतर मुसलमान किसान थे। इन लोगों ने मेरे मनोरंजन के लिये एक अभिनय किया, जिसका उपजीव्य साहित्य किसी ऐसे धर्म-सम्प्रदाय की देन थी, जो आज जीवित नहीं, किन्तु जो सदियों पहले बहुत प्रभावशाली था। उसकी आवाज़ आज भी सम्पूर्णतया भिन्न संस्कृति की गोद में पले हुए मानवों के लिये भी आकर्षण की वस्तु थी। अपने विशिष्ट मतवाद के दृष्टिकोण से उसमें भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्ववाद की व्याख्या थी, मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न अङ्गों—देह, चैत्यपुरुष और आत्मा की चर्चा थी। इसके बाद एक ऐसा संवाद आया जिसमें वृन्दावन की तीर्थयात्रा करनेवाले एक धर्मपिपासु को कोई प्रहरी चोरी के अभियोग में रोक लेता है। चोरी के प्रमाण में कहा गया कि वह अपने भीतर अपने चैत्यपुरुष के स्थान में अपने मालिक के चैत्यपुरुष को छुपाए है। उसकी वह पोटली भी बरामद हुई जिसके कारण उसकी मनोकामना अवरुद्ध हो रही थी। किसी फटेहाल तम्बू के नीचे जिसे बाँस के डंडे येनकेनप्रकारेण सँभाले हुए थे, रोशनी से ज्यादा धुआँ देनेवाली किरासिन की टिमटिमाती बत्तियों के धुँधले प्रकाश में, पास के धान के खेतों से बीच-बीच में आनेवाली सियारों की 'हुआ-हू' से व्याहत दर्शक-मण्डली अटूट आग्रह और एकाग्रता के साथ सारी रात उस अनोखे अभिनय को देखते हुए—जिसमें नाच-गान-हँसी-मज़ाक का अजीब संमिश्रण था—परम तत्त्व की वार्ता सुनती रही।

साहित्य और दर्शन के इस अङ्गाङ्गि सम्पर्क का रहस्य यही है कि यहाँ दर्शन ने जीवन में ही परमार्थ की प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग खोजा और दिखाया है। जीवन की सार्थकता का—परमार्थ का अर्थ सत्य की मुक्ति है जिसे उपनिषद् के ऋषि की इस वाणी में हम ध्वनित पाते हैं : असतो मा सद्गमय। कारण सत्य ही आनन्द रूप है।

कविकर्म से सम्बन्ध रखने के नाते सत्य के इस आनन्दमय रूप की मेरे मन में अपनी ही एक धारणा है। मन की बन्धनहीन मुक्ति की राह से सत्य का आस्वाद देना तो शिल्पमात्र

का काम है। किन्तु शिल्प-जगत् से सम्बन्ध रखनेवाले सौन्दर्य शास्त्र में 'सुन्दर' लोक-प्रचलित रूप की व्यञ्जना नहीं की जाती; सुन्दर का अर्थ वहाँ वही है जिसे अंग्रेजी कवि अपनी सुप्रसिद्ध उक्ति में 'सत्यम् ही सुन्दरम् है, सुन्दरम् ही सत्यम्' कह कर व्यक्त करता है। जराजीर्ण असुन्दर वार्द्धक्य के चित्र को भी हम सुन्दर कहते हैं, यदि वह उस वार्द्धक्य के अन्तर्निहित सत्य को—उसके प्राण-छन्द को—व्यक्त कर सके। महाभारत के महारथी कर्ण का चरित्र कभी-कभी आदर्शच्युत होकर, परस्पर विरोधी वृत्तियों का प्रदर्शन करके भी इतना वास्तविक, इतना जीवन्त हो उठता है कि उसमें हम सृजन की एक विशेष स्पष्टता, एक जीती जागती सुनिर्दिष्ट दृढ़ता पाते हैं।

शिल्प मानव-जीवन की अपूर्णताओं की प्राप्ति का साधनमात्र नहीं है; वह सत्य के साक्षात्कार का साधन है। यह सत्य जीवन के तथ्यों से मेल नहीं भी खा सकता, किन्तु उसकी सत्यात्मकता के कारण वह हमें आनन्द प्रदान करता है, हमारी रागात्मिका वृत्ति का समाधान प्रस्तुत करता है। स्वार्थ के संकीर्ण घेरे से निकलकर हम उस ऐक्य के दर्शन करते हैं, जो सत्य का मूर्त रूप है, शाश्वत आनन्द का विधायक है। शिल्प के समान अध्यात्म लोक में भी आत्मा अहंकार से मुक्त होकर उस अहैतुक आनन्द को प्राप्त करने का प्रयास करती है जो सृष्टि का चरम लक्ष्य और मूल उत्स है। बाह्यकरणों की मायामरीचिका से स्वतन्त्र होकर वह सत्य के ऐक्य का साक्षात् करना चाहती है। मुक्ति की यह प्यास जो हमारे देश के तत्त्वज्ञान से प्रेरित है, हमारी भावनाओं के आदि स्रोत में स्पन्दन लाती है और हमारी दैनन्दिन प्रार्थनाओं को काव्य के स्वर्णिम पंखों के द्वारा स्वर्लोक की ओर उन्मुख करती है। हमारे देश के अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित समुदाय में भी इस प्रकार की सहज उदात्त प्रार्थना का स्वर झंकृत होता हुआ सुना जाता है : माँ तारा, भला कहो तो सही, किस अपराध से इस संसार रूपी कारागार में मुझे इस दीर्घ अवधि के लिये बन्दी किए रहोगी ?

**तारा, कोन् अपराधे ए दीर्घ मेयादे**
**संसार-गारदे राखिबि बल् ?**

सत्य से विलग, विषयों के फेनिल जंजाल से जड़ित, सुख-दुःख के ज्वार-भाटे से आहत वे मनुष्य जीवन की चरम सार्थकता लाभ करने के लिये लालायित हैं। प्रार्थियों के इस सम्प्रदाय में कोई गाड़ी चलानेवाला गाड़ीवान है, तो कोई मछली पकड़नेवाला मछुवा, कोई मज़दूर है तो कोई किसान। मुमकिन है अपने तरानों का अर्थ वे अचानक आपको न भी समझा सकें, मगर उनका अन्तर इतना अनायास ही निःसन्देह जानता है कि जीवन का यथार्थ क्लेश विषयों के अभाव में नहीं, जीवन के चरम अर्थ के ओझल होने में ही है। सत्य को आच्छन्न करनेवाली माया-ममता अथवा मोर-तोर की भावना की निन्दा उनकी साधारण बातचीत का अंग है। अपने ही समाज में सत्य की खोज में सब कुछ को ठुकराकर—घरफूँक तमाशा देखनेवाले मस्तमौला साधकों के दृष्टांत उन्होंने अपनी आँखों देखे हैं। इस ठुकराने का उद्देश्य है मुक्ति। संभव है उसी गाँव का कोई कबीर, कोई रैदास उन्हींके देखते-देखते इस

मुक्ति को पा गया है। यह साधना उनके जीवन का स्वतः स्फूर्त सत्य है, कपोलकल्पित अनुमिति नहीं। समाज की प्रचलित बाज़ार-दर से इन रत्नों का मूल्य नहीं आँका जा सकता। इन साधकों की संख्या नितान्त कम नहीं है, किन्तु इतिहास के पृष्ठों में इनकी सूचना नहीं मिल सकती। इन फक्कड़ औलियों की निगाह में राजा भी अपने राजत्व की शृङ्खलाओं में जड़ा दास है, धनकुबेर भी अपने वैभव के पिंजरे में बन्दी कैदी है। उन गायकों की मुक्ति बन्धन के अभाव में नहीं, बाहरी वैराग्य में नहीं, आनन्द के निर्झर संगीत में झंकृत है। वे सहज ही कह उठते हैं: "जिन खोजा तिन पाइयां गहिरे पानी पैठ।" अथवा "जे जन डुबलो सागर गभीरे, तार ना-पावार किछुइ नाहि रे।" जब बाहर के वैचित्र्य और अन्तर की दृष्टि में सामंजस्य हो जाता है, बाहर-भीतर एक हो जाते हैं, तभी 'अजब' अनिर्वचनीय का साक्षात्कार होता है। कबीर के शब्दों में:

भीतर कहूँ तो जगमय लाजै,
बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरन्तर,
चित्त—अचित दोउ पीठा लो॥

इन अनोखे गायकों ने सदा विश्वास किया है कि यह सत्य, यह मुक्ति कोई जल्दबाज़ी से पाने की वस्तु नहीं, धीर स्थिर साधन की वस्तु है, जिसमें हृदय कुसुम पँखुड़ी-दर-पँखुड़ी अपने दलों को खोलकर सौरभ बिखेरता है। गावों का अख्यात कवि इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है:

निठुर गरजी, तुइ कि मानस-मुकुल भाजबि आगुने।
तुइ फुल फुटालि, बास घुटालि, सबुर बिहने?
देखना आमार परम गुरु साँइ,
से युग-युगान्त फुटाय मुकुल, (तार) ताड़ाहुड़ा नाइ।
तोर लोभ प्रचण्ड
ताइ भटसा दंड
एर आछे कोन् उपाय। (रे गरजी)
कय ये मदन
शान् निवेदन
दिस् ने वेदन
सेइ श्रीगुरुर मने,
सहज धारा
आपन हारा
तार बाँशि शुने। (रे गरजी)

बाँसुरी की पुकार वही मुक्ति की टेर है। इस टेर पर हमें घर-बार छोड़कर जाना ही पड़ता है। यह त्याग बाहर का त्याग नहीं अन्तर का त्याग है। इस मुक्ति के बिना ही बाह्य जगत् बोझिल हो उठता है। विषयों की दासता तभी कही जाती है जब हम उन्हें भोगते तो हैं किन्तु अन्ध की नाईं उनका अर्थ नहीं समझते। संसार और जीवन इसीलिए मिथ्या है कि हम उस सत्य को नहीं जानते जिससे वह सार्थक है। यदि पंछी एक ही डैने को लेकर उड़े तो हवा के थपेड़े उसे गिरा देते हैं; दोष हवा का नहीं, पंछी के डैनों की अपूर्णता का है। अपूर्णता आघात पहुँचाती है—अशिव होती है। खण्डित सत्य ही आहत करता है। क्योंकि वह उसे पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं करता जिसकी सूचना या आभास वह हमें देता है। मृत्यु हमें आहत नहीं करती, किन्तु रोग करता है, कारण, वह हमें स्वास्थ्य की याद तो दिलाता है मगर स्वयं उससे वंचित रखता है। जीवन—एकांगी और अपूर्ण—अशिव ही है, क्योंकि वह स्पष्टतया अधूरा होने पर भी पूरे होने का भान करता है। हमें जीवन का चषक तो मिला किन्तु जीवन का रस नहीं। सत्य का खण्डित वृत्त ही अकल्याण का कारण होता है; उसकी पूर्णता ही मंगल-विधायिनी होती है।

एक बाउल-गीत के द्वारा ही मैं इस प्रसङ्ग को समाप्त करना चाहता हूँ। एक सदी से ऊपर हुआ, इस कवि ने अपने इस गान में ससीम और असीम के निरवच्छिन्न ग्रन्थिबन्धन की वार्ता गाई थी। हृत्पद्म न जाने कितने युगों से खिलता आ रहा है। सीमा भी उसमें बन्दी है और सीमाहीन भी। खिलते-खिलते भी इस कमल का खिलना समाप्त नहीं होता। इस कमल का मधु एक है जिसका रस विशेष है; इसे लोभी भ्रमर छोड़ नहीं पाता। इसी से सीमा और सीमाहीन दोनों बँधे हैं—मुक्ति किसी को नहीं मिलती, रे भाई, मुक्ति किसी को नहीं मिलती।

हृदय कमल चलछे फुटे कत युग धरि,
ताते तुमिओ बाँधा, आमिओ बाँधा उपाय की करि।
फुटे फुटे फुटे कमल, फुटार ना हय शेष;
एइ कमलेर जे एक मधु रस-जे तार विशेष
छेड़े जेते लोभी भ्रमर पारे ना जे ताइ,
ताइ तुमिओ बाँधा, आमिओ बाँधा, मुक्ति कोथाओ नाइ।
(रे बन्धु, मुक्ति कोथाओ नाइ)

(ऑल इंडिया फिलॉसॉफिकल कांग्रेस, १९२५ के सभापति पद से दिए गए भाषण का श्री मोहनलाल वाजपेयी द्वारा किया हुआ संक्षिप्त रूप।)

# प्राचीन चित्रकला में लोक-दृश्य

## राय कृष्णदास

कलाओं पर जो सबसे बड़ा आक्षेप होता है, वह यह है कि इनमें लोक बिलकुल उपेक्षित रहा है। इस आक्षेप के मूल में यह धारणा है कि हमारी कलाएं १. लोक से दूर, राजाश्रय में पाली पोसी दरबारी कलाएं हैं: २. वे धर्मपरक हैं, अतः लौकिक जीवन से उनका कोई संबंध ही नहीं; ३. उनका उद्‌गम लोक से नहीं वरन् बार बार होने वाले विदेशी प्रभावों से है, जिनका समय समय पर संपर्क दीखता है। इस प्रकार की बातें सुनते सुनते अपनी कलाओं के प्रति स्वयं हमारी धारणाएँ ऐसी हो गई हैं, जिनके परिष्कार की आवश्यकता है, इनमें तीसरी बात तो अब बहुत कुछ दब सी गई है, क्योंकि यद्यपि खोजों के अभाव में हमें बहुत थोड़ी सामग्री प्राप्त है, पर वाङ्मय से हमें ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं कि अपने देश का मानव इस सहज प्रवृत्ति से वंचित न था, विधाता ने औरों की भांति उसे अपने आपकी अभिव्यक्ति करने की शक्ति दी थी, गूँगा नहीं बनाया था।

साहित्य की भाँति सभी कलाओं का उद्‌गम स्थल लोक ही है। वहीं की रसमय धारा कला के तलस्थ मूल को अनजाने ही सींचती रहती है, भले ही उसकी शाखा प्रशाखाएं आकाश को छूने लगें, और संसार चिल्ला चिल्लाकर उसके मूल की स्थिति को ही अमान्य कर दे। कम से कम भारतीय कलाओं ने जब जब अपने आपको उस मूल से अलग करने का प्रयत्न किया, तब तब परिणाम कुछ और ही हुआ, वे शाखाएं प्रशाखाएं ही सूख गईं और नया अंकुर निकला, फिर अपनी संस्कृति में कहीं भी लोक की उपेक्षा नहीं। लोक कलाओं की मान्यता जातक काल से ही मिलने लगती है। उनका अपना वर्ग मिलता है जिसे देशी कहते हैं और जो नागर कलाओं—'मार्ग'—से कई दृष्टियों से भिन्न है। जातक का समाज भलीभांति जानता है कि देशी कलाओं में एक विशेष प्रकार की लय होती है, गति होती है जो नागर मार्गों की, खराद पर चढ़कर मंजते समय घिस कर निकल जाती है। इसके लिये एक विशेष घटना का उल्लेख है। लोक कला के एक कार्यक्रम को देख गंवारू मान कुछ सुधारकों ने एक बार उसमें परिवर्तन करना चाहा। परिवर्तन तो न हो सका, उसकी जान ही निकल गई, सारा दृश्य निर्जीव हो गया।

जिस समाज में लोक कला के प्रति इतनी व्यापक दृष्टि हो उसकी संस्कृत कलाओं का लोक से संबंध न होना ही आश्चर्य का विषय है। फलतः हमें जिन कलाओं के अवशेष प्राप्त हैं, उनमें लोक बरबस झांक झांक उठता है। प्राचीन चित्रकला तो लोक दृश्यों का अक्षय भांडार है।

प्राचीन चित्रकला को धार्मिक घेरे में घेरने का जो भी प्रयत्न हो, वह जीवन से किसी प्रकार दूर नहीं मानी जा सकती। अजंता के भित्ति चित्र इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। ऊपरी दृष्टि से तो इन चित्रों को धार्मिक वा अधिक से अधिक एक विशिष्ट वर्ग की परिधि से सीमित

माना जाता है और ऐसे दृश्य उसमें हैं भी, पर यदि हम उसके अंतर को तनिक झांककर देखें तो हमें कुछ दूसरे दृश्य ही देखने को मिलेंगे। पहली बात तो यह है कि इन दृश्यावलियों का मूल जातक है, जो लोक कथाओं का संग्रह मात्र है, जिन्हें उदाहरण के रूप में प्रयुक्त कर भगवान बुद्ध ने अपने उपदेशों को लोक के लिये और सुगम कर दिया। अजंता में जो जातक चित्रित हुए हैं, उनमें से एक विशिष्ट पात्र को बोधिसत्व के रूप में रखने की प्रवृत्ति को हम यदि बाद कर दें तो सारा का सारा दृश्य लोक कथाओं के चित्रण का ही मिलेगा। फलतः अजंता के चित्रकार ने अनेक स्थलों पर राजमहल से मुक्ति पाई है और लोक दृश्य प्रस्तुत किये हैं। छद्दन्त जातक का दृश्य ऐसा ही है। हिमालय की तराई में फैले एक विस्तृत वनखंड में इस कथा का प्रस्फुटन होता है। छै दांतोंवाला एक गजराज अपनी हाथियों के साथ वहांवाले, कमलों से भरे, एक सरोवर में क्रीड़ा करता दीखता है। दूसरे दृश्य में शाल, पीपल, वड़, गूलर आदि आदि वृक्षों से भरे इस वन में दो तीन व्याधों का प्रवेश दीखता है जिन्हें रानी ने इसी गजराज को मारकर उनके छै दांत उपस्थित करने की आज्ञा दी थी। पर सारे वन और इस गजकुल की शोभा देख व्याध तक द्रवित हो जाते हैं और गजराज के दांत काटकर यों ही लौट जाते हैं। हिमालय के उपांतवाले वन की शोभा और तत्कालीन व्याधों के व्यवहार का इतना सुन्दर चित्रण दुर्लभ है। इसी प्रकार, वनश्री का बहुत सुन्दर अंकन मृग जातक में मिलता है। एक अन्य दृश्य में, जिसका अभिज्ञान नहीं हो सका है, वन में पड़ी प्रसव पीड़ा से कराहती एक स्त्री का चित्रण, इस बात को प्रमाणित करने के लिये अलम् है कि उस काल का चित्रकार किसी रूप में भी राजसभा की वा नगर की सीमा में अवरुद्ध न था। पर यहाँ तक नहीं, अजंता के चित्रकारों ने तत्कालीन जीवन के भी कुछ दृश्य दिए हैं, जिनमें कुछ तो नागर जीवन के हैं और कुछ लोक के। यहां विशेष रूप से ऐसे एक प्रसंग का हवाला करना अनुचित न होगा। अजंता में ऐसे दृश्य मिलते हैं, जिनमें भगवान् बुद्ध की पूजा करने के लिये जानेवालों का समाज चित्रित हुआ है। इनमें विशेष रूप से, फूलों के थाल लिये हुए बगल में शिशु दबाये, अपने बच्चों का हाथ पकड़ स्त्रियों के चित्रण लोक के अत्यंत निकट है, जिन्हें आज भी देखा जा सकता है। किसी किसी स्त्री के हाथ में मुर्गा वा बतख जैसा पक्षी भी दीखता है, जो संभव है किसी······लोक··विश्वास के कारण तत्कालीन किसी बलि के काम में आता हो, अन्यथा मंदिरों के द्वार पर उसका क्या प्रयोजन ? इन दर्शनार्थियों की भीड़ भाड़, रेल पेल का बहुत सुन्दर अंकन हुआ है। एक दृश्य में एक अर्द्ध खल्वाट भिक्षु भी दीखते हैं, जिनकी मुद्रा हंसी ले आने के लिये काफ़ी है। आज भी मंदिरों में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं। दूसरी ओर इन स्त्रियों के साथ साथ भागते हुए बच्चे बनाकर चित्रकार ने अपनी मर्म-ग्राहिणी दृष्टि का परिचय दिया है। एक दूसरे स्थल पर इन स्त्रियों के साथवाले बच्चे बैठकर गोली वा पासे जैसी चीज खेल रहे हैं. इनमें एक तो उस खेल के किसी नियम को बतलाने में व्यस्त है।

वस्तुतः अजंता के चित्रकार में लोक संग्रह करने की ऐसी प्रवृत्ति मिलती है कि उसने जहां भी अवकाश पाया ऐसे दृश्य रख दिए। एक स्थान पर एक चक्र सा बना है। खेद है इसका अधिकांश नष्ट हो चुका है। इसमें लोक के अनेक दृश्य यथा हाट बाजार आदि क्यों बने हैं इसका कोई समाधान नहीं हुआ। एक अन्य स्थान पर चित्रकार ने एक नग्न क्षपणक को

अपने हास्य का लक्ष्य बनाया है। ये महाशय साधुओं की एक जमात में चले जा रहे हैं और ये स्थूल तो इतने हैं कि दो पार्श्ववर्त्तियों के कंधों पर सहारा लेकर ही जैसे तैसे चल पाते हैं। अजंता में ही पाटनों के अलंकरण में चित्रकार ने सांड़ों, भैंसों, मेंढ़ों, कुक्कुटों आदि की लड़ाई जैसे लोक दृश्य उरेह दिए हैं। यह निश्चित है कि अजंता की चित्रकारी मंदिर वा राजमहलों की परिधि तक सीमित न थी।

अजंता से ही चित्रकला के ह्रास की प्रवृत्ति दीखने लगती है। यह ह्रास चित्रों के अंकन अर्थात् विधान तक ही सीमित न रहा। इन चित्रों का विषय भी एक बहुत ही सीमित परिधि में अवरुद्ध हो गया। यह प्रवृत्ति मध्यकालवाली दोनों शैलियों, अपभ्रंश और पाल दोनों शैलियों में एक सा है। यहां एक बात और ध्यान देने की है। अपभ्रंश चित्रकला को आजकल लोक कला के स्तर पर लाने का एक आन्दोलन दीखता है। वस्तुतः यह शैली थी तो नगर की ही और मध्ययुगीन विकृति का उस पर भी वही प्रभाव पड़ा था, जो तत्कालीन जीवन के अन्य क्षेत्रों में दीखता है, पर उस कालवाले चित्रकारों के एक वर्ग की बात भी सुन पड़ती है जिनके अलग गांव व बस्तियां होतीं। उनकी एक अलग जाति भी थी। उन्हीं के द्वारा यह चील बिलार हुआ है। नगर की कला लोक कला से उद्भूत हो पुनः प्रतिफलित हो लोक कला को प्रभावित भी करती है। यह आवर्तन, प्रत्यावर्तन कला के क्षेत्र में तो बराबर चलता रहता है, पर हमें अन्य काल की चित्रशैलियों से यह बात दीखती है कि लोक शैली जैसी दीखने वाली ये शैलियां नगर में ही नहीं, दरबारों के आश्रय में प्रवर्धित हुई। परवर्त्ती काल में राजस्थानी, बसोहली आदि शैलियां इसी श्रेणी में आती हैं। इनका रूप स्वरूप तो लोकशैली वाला ही है। परंतु उन्हें लोकशैली के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः इन क्षेत्रों में एक लोकशैली के अलग अस्तित्व का पता है। यही स्थिति अपभ्रंश शैली की है। अपभ्रंश भाषा की भांति उसका भी एक 'ग्राम्य' रूप रहा होगा। फिर इस तर्क को कि ये चित्र परंपरागत चित्रकारों की एक श्रेणी द्वारा चित्रित होने के कारण लोक शैली वाले हैं, के विरूद्ध यह विचारणीय है कि लोककला की भांति ये स्वयं उद्भूत नहीं, वरन् इन्हें तैयार कराया गया था। हां, उन कारीगरों की इतनी सामर्थ्य न थी कि वे उसी से अच्छा काम तैयार कर सकते।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि ११ वीं १२ वीं शतीवाले चित्रों के विषय तो धार्मिक मूर्त्तियों के अंकन तक ही सीमित रहा। धीरे धीरे जाग्रति का युग आया। अनेक लोक उपाख्यानों के चित्रण होने लगे। इन अंकनों में भी प्राण का संचार हुआ। संभव है इस काल की जाग्रति का उत्स लोक ही रहा हो, क्योंकि उस समय तक हमारी नागर चित्रशैली अत्यन्त ह्रास की दशा को पहुंच चुकी थी। कम से कम काव्य का उद्धार तो 'देसी' भाषाओं द्वारा ही हुआ था। इस कालवाले कुछ अंकन तो लोकशैली के अत्यंत निकट हैं, जिनसे दोनों की उस काल में निकटता की कल्पना की जा सकती है।

इसी नव उत्थान से प्रस्फुटित हो राजस्थानी, दकनी एवं मुगल शैलियों का जन्म हुआ। राजस्थानी शैली की लोकशैली से बहुत निकटता दीखती है। इसी की एक शाखा पंजाब की पहाड़ियों में बसोहली शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन दोनों शैलियों में तेज़ रंगों की प्रधानता, बंधों का प्रेम एवं आलंकारिक अंकन इन्हें लोकशैली के बहुत निकट ला

देता है। पर वस्तुतः ये राज्याश्रित शैलियां थीं और लोक में एक दूसरी ही लोक शैली इन्हीं की अनुगामिनी हो कर चल रही थी।

उधर अकबर के समाश्रय में एक नई चित्रशैली का जन्म हुआ, जो मुगल शैली के नाम से प्रसिद्ध है। यह परिष्कृत और दरबार की चित्रशैली थी, जिसके क्षेत्र में लोकदृश्य यदा कदा ही आने चाहिए थे। पर अकबर की प्रेरणा से तैयार हुए, रज़्मानामा अर्थात् महाभारत के अनुवाद, पंचतंत्र, कथासरित्सागर आदि के चित्रण में लोक दृश्यों की कमी नहीं। इनमें लोक का जो रूप चित्रित हुआ है वह कलाकार के अत्यंत निकट अध्ययनवाला ही।

जहाँगीर के आश्रय में चलनेवाली मुगल शैली को निश्चित रूप से बादशाह को केन्द्र मानकर बादशाह की रुचि तक सीमित परिधिवाली चित्र शैली मान सकते हैं, आश्चर्य का विषय है कि जहाँगीर शैली में भी लोक के दृश्य आए हैं, जहाँगीरी चित्रों में संगीत समाजवाले दो चित्र ऐसे ही दृश्य उपस्थित करते हैं, इनमें एक वादक तन्मयता के साथ सरोर बजा रहे हैं और दो तीन व्यक्ति उसके रस में निमग्न हैं। इनमें एक तो शस्त्रास्त्रों से सज्जित लम्बा चौड़ा जवान है, दूसरा सुग्गे का पिंजड़ा लिए कोई देहाती है, जिसने अपने सुग्गे को संगीत का पूरा आनन्द लेने के लिये पिंजरे के बाहर बैठा दिया है और तीसरा वस्त्र विन्यास से कोई जोगी जान पड़ता है। पीछे राजमार्ग का सुन्दर दृश्य है जो घोड़ों, ऊँटों, हाथियों से भरा है। उसके पीछे गांव की झोपड़ियों की पंक्ति चली गई है। उस कालवाले ऐसे बहुत थोड़े ही दृश्य चित्रों में उतरे हैं। इसी चित्र की दूसरी प्रति (Version) में जैसे किसी संत की कुटी का दृश्य चित्रकार ने खींचा हो। पीछे के घर में दो एक मटके, कुछ सूखी लकड़ियाँ आदि भी बनी दीखती हैं।

ऐसे ही एक दूसरे आश्रम के चित्रण में जहाँगीर काल के प्रसिद्ध चित्रकार बिशनदास ने कमाल कर दिखाया है। वे इस चित्र में लोक के बहुत निकट आ गए हैं। संत शेख फूल का आगरेवाला आश्रम इस चित्र का विषय है। संत अपनी धुन में मस्त, चबूतरे पर कुछ खोद खाद कर रहे हैं। उसी चबूतरे पर उनके दो एक चेले भी दीखते हैं। पीछे उनकी सूनी कोठरी है जिसकी बगल में रसोई घर है। इन सब को छाए हुए नीम का पेड़ है जिसकी हरियाली आज भी आंखों को हरा कर देती है। छत पर दो कौवे बैठे संलाप कर रहे हैं, इसे बनाना भी चित्रकार न भूला। एक ओर संत की मुरछली टँगी है। इधर राह का दृश्य भी बड़ा सजीव है। एक ओर से कुछ संभ्रांत दर्शनार्थी इन्हीं संत के विषय में कुछ वार्त्तालाप करते आ रहे हैं। दूसरी ओर, कुछ स्त्रियों का एक दल है। राह का भी बड़ा सुन्दर दृश्य चित्रकार ने खींचा है। रास्ता चलता, एक सिपाही संत को सलाम कर रहा है, एक फ़र्राश झाड़ू दे रहा है, एक भिश्ती संत की ओर देखता देखता दूसरी ओर चला जा रहा है, एक युवती भी राह चलते मुड़कर संत दर्शन करती दीखती है। ऐसे दृश्यों के रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि हमारे प्राचीन चित्रकार लोक के प्रति उदासीन थे।

शाहजहाँ काल के चित्रण निश्चित रूप से दरबार की ऊँची दीवारों से घिरे हुए थे। उसका केन्द्र-बिन्दु बादशाह है जिसके चारों ओर चित्रकार घूमता रहता है। परन्तु आश्चर्य का विषय है कि जिस प्रकार तनिक ध्यान हटते ही सुदृढ़ से सुदृढ़ पत्थर की दीवार से हरियाली

फूट निकलती है वैसे ही इन दरबारी चित्रों में कहीं कहीं बड़े ही मार्मिक लोक दृश्य आते हैं। भारत कला भवन में ही भारतीयों के कन्दहार विजयवाला जो चित्र है उसमें पृष्ठिका में चित्रकार फतहचन्द ने बलख देश का सैर (दृश्य) दिखलाने में कमाल किया है। चारों ओर वीरान पहाड़, जिनमें मुगल शिविर दूर दूर तक फैले हुए हैं, और उनके बीच एक लम्बा चौड़ा जलाशय जिसके तट पर तरह तरह के जलपक्षी बनाने में चित्रकार ने अपनी दूर दूर तक भ्रमण करनेवाली कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। ऐसी ही सुन्दर पृष्ठिकाएं, शाहजहाँ कालीन संतों के आश्रम के चित्रण में मिलती हैं। इन चित्रों को देख जान पड़ता है जैसे दरबारों के चित्र बनाते बनाते चित्रकार इन दृश्यों को चित्रित करने के लिये व्याकुल हो उठा हो और तनिक सी संधि मिलते ही उसने लोक-दृश्यों को उतार दिया। इनमें एक चित्र में तो उसने गांव की स्त्रियों को पुरवट चलाते और हरियाली से लहलहाते खेतों का बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य उपस्थित किया है।

इसी समय से पंजाब की पहाड़ियों में एक अलौकिक चित्र शैली प्रस्फुटित हो रही थी जो पहाड़ी शैली के नाम से लोकविश्रुत है। प्रत्येक भाव के अंकन में इन चित्रकारों के समान सफलता पाई। केवल बाह्य चेष्टाओं को ही नहीं, आंतरिक भावों को अंकित करने में, उन्हें स्फुट कर सकने में इन चित्रकारों ने अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है। इन चित्रकारों को लोक-दृश्य उपस्थित करने के कई प्रसंग आए। इनमें नायिकाभेदवाले चित्रों में भी यद्यपि लोक के दृश्य आते हैं पर उनका विशिष्ट रूप तो कृष्ण लीला चित्रों में मिलता है। इन चित्रों की पृष्ठिका लोक जीवन से ही ली गई है और ब्रज के गांवों के चित्रण में कलाकार ने अपने गांवों को ही चित्रित कर दिया है, जिसमें यमुना के स्थान पर पहाड़ी नदी अवतरित हुई है। फिर वन में धेनु चराते, कुंजों में बैठ मुरली का धुन गुंजारित करते, पनघट पर लीला करते, गोपियों के साथ दान-लीला करते, ग्वाल बाल के साथ तरह तरह की क्रीड़ा करते, जिस कृष्ण कन्हैया का चित्रण हुआ है वह लोक से ही लेकर। उसमें कलाकार ने परम ब्रह्म परमात्मा के एक स्वरूप का चित्रण करना भले ही चाहा हो पर हुआ है उसी बाल गोपाल का जो घर घर को सुशोभित करता है।

वस्तुतः अपने प्राचीन चित्रों में लोक के प्रति कभी उदासीनता न रही। इन चित्रों के चित्रकार भी लोक से आते हैं, जैसा हमें अकबर कालवाले सबसे बड़े चित्रकार दसवंत की कथा से ज्ञात है। ये जाति के कोहार थे और पहले पालकी ढोने का काम करते थे। चित्र बनाने में रुचि होने से इन्होंने इस विद्या को सीखा और पीछे तो ये इतने ऊँचे उठे कि अपने काल के सबसे बड़े चित्रकार हुए ही, संसार के इने गिने चित्रकारों में इनकी गणना है। जिस समाज में किसी व्यक्ति को इतना विकास कर सरकने की गुंजाइश हो, दूसरे शब्दों में जिस समाज का चित्रकार वर्ग इस प्रकार सीधे लोक से ही आता हो, उस चित्रकला में लोक तत्त्व न मिलना ही आश्चर्य का विषय है। इस प्रकार हमारी कला के लम्बे इतिहास में समस्त नागर कलाओं का स्रोत वस्तुतः लोक ही रहा है और उन दोनों का पारस्परिक आदान प्रदान किस रूप में चलता रहा, यह बड़ा गंभीर और स्वतंत्र खोज का विषय है।

# गौ रूपी शतधार झरना

वासुदेवशरण अग्रवाल

( १ )

वेदों में भूमि पर आश्रित जीवन की जो कल्पनाएँ हैं उनमें सम्भवतः सबसे अधिक सुन्दर, सत्य, सरस और उपयोगी यह है—

**साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद् गौः** ( शतपथ ७।५।२।३४ )

'सहस्र गुना महान्, सौ धाराओंवाला यह झरना है, जो गौ है।' सचमुच इस देश की भूमि में प्रकृति ने गो के रूप में सैकड़ों धाराओंवाला बड़ा झरना ही खोल दिया है। यह झरना साहस्र है। वेद की भाषा में जो अपरिमित होता है, जिसकी इयत्ता नहीं, जो महान् से महान् है, उसे साहस्र कहते हैं। यह विशेषण स्वयं सृष्टिकर्त्ता के लिये आता है। उसी का कवि ने गौ के लिये प्रयोग किया है। गौ रूपी झरना साहस्र क्यों है? इसलिए कि वह कभी छीजता नहीं। और झरनों में जल घटता बढ़ता है, वे परिमित हैं, जैसे प्राकृतिक कारणों से बन गये हैं, वैसे चलते रहते हैं। पर गौ का झरना कितना बढ़ सकता है इसकी हद नहीं है। पहाड़ी झरने और जल-धाराएँ एक देशीय हैं, जहाँ हैं वहीं उपयोग है। पर गौ का झरना सारे देश में, गाँव-गाँव में, घर-घर में, खूंटे-खूंटे पर इच्छानुसार बांधा जा सकता है। जिसके ऊपर चाहो इस झरने की दूधिया धार छोड़ दो, जिस घर को चाहो इस घियाल झरने से भर दो। शतपथ ब्राह्मण ने गौ की जो परिभाषा ऊपर बांधी है, उसका मूल यजुर्वेद में है, जहाँ कहा है—

१. यह झरना सौ धाराओंवाला है ;

२. यह झरना सहस्र गुणित ( साहस्र ) है ;

३. यह झरना जल के बीच में से झरकर उसे दूध बना रहा है ;

४. यह झरना अदिति रूप है, अनन्त प्रकृति का अपना रूप है।

५. इस झरने से जनता के लिये घी दुहा जाता है।

६. हे बुद्धियुक्त प्राणी, तुम्हारे जीवन के जो ऊंचे स्रोत हैं, वहाँ तक पहुँचो और इस झरने की हिंसा मत होने दो।![1]

गौ के चार थनों में मानों चार समुद्र ही समा गए हैं। उसकी दुग्धधारिणी धार एक होते हुए भी सौ गुनी है। उसी से दूध, दही, साढ़ी, मट्ठा, लौनी, घी, खोवा, छाछ, लस्सी,

---

१—इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्॥ यजु० १३।४९.

पनीर क्या नहीं होता ? गौ की संख्या वृद्धि ज्यामिति वर्ग की तरह दुगने, चौगुने, सोलहगुने, प्रमाण से बढ़ती है। अतएव वह सचमुच सहस्रगुणित या अपरिमित है। पानी को दूध बनाने की शक्ति गौ के झरने में ही है। धरती पर मेघों ने जो घास तिनके उपजाए हैं, उन्हें खाकर गौ इस दूध के झरने को उत्पन्न करती है। जनों के लिये घी की धार के फव्वारे इसी स्रोत से छूटते हैं।

भारत की स्वराज्यमयी भूमि पर आज क्या चाहिए ?

**गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्। ( अथर्व ६।४।२० )**

'गौएं चाहिए और शरीर-बल से बलिष्ठ प्रजाएं चाहिए।' आज इस भूमि पर नित्य बछड़ा चुखानेवाली, दुहने में सहेज गौएं चाहिए—

**अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां। ( अथर्व ६।४।२१ )**

( २ )

गौ और हमारे जनपद का सम्बन्ध बहुत पुराना है। गौ के रूप, रंग, स्वभाव और शरीर-गठन का सूक्ष्म अध्ययन यहाँ किया गया। हमारी बोलियाँ उनका वर्णन करनेवाले शब्दों से भरी हुई हैं। अनेक शब्द संस्कृत से निकले हैं, कुछ ठेठ बोलियों में जन्मे हैं। अथर्व वेद का नित्यवत्सा शब्द ऊपर आया है। नित्यवत्सा वह गाय है जो सदा बछड़ेवाली रहे, जो एक ब्याँत से लेकर दूसरे ब्याँत तक सदा दूध देती रहे, जिसके नीचे हमेशा बछड़ा चौंखता रहे। पाणिनि ने ऐसी गाय को महागृष्टि कहा है ( ६।२।३ )। पहली बार ब्याई हुई पहलवन गाय गृष्टि हुई। वह यदि दूसरी ब्याँत तक बराबर दूध देती चली जाय, तो उसे महागृष्टि कहा जायगा। ऐसी गाय के लिये सूरदास ने ब्रजभाषा के भंडार में से नैचकी शब्द का प्रयोग किया है। नित्यवत्सा की ही संज्ञा नैत्यिकी है, अर्थात् जो नित्य दूध की हो। नैत्यिकी-नैचिकी-नैच्चिकी-नैचकी यह विकास-क्रम है। हेमचन्द्र के अनुसार नैचिकी गाय सब गायों में बढ़िया मानी गई है। ( नैचिकी तूत्तमा गोषु, अभिधान चिन्तामणि-४।३३६ )। नैचकी गाय बरस बियावर होती है। बरस-बरस पर बियानेवाली गौ के लिये पाणिनि का सरस सूत्र है, समां समां विजायते ५।२।१२, जिसके अनुसार ऐसी गाय पुराने समय में समांसमीना कहलाती थी। पतंजलि ने लिखा है कि जो साल-साल की बियानी हो वह अच्छी गाय है, पर जो बरस बियावर होते हुए हर बार बछिया दे, वह और भी बढ़िया हुई—

**गौरियं या समां समां विजायते।**
**गोतरेयं या समां समां विजायते स्त्रीवत्सा च ॥**

**( भाष्य ५।३।५५ )**

अधिकतर गाएं दुवास अर्थात् दो दो बरस पर बियानेवाली होती हैं। गाय दसवें महीने बियाती है। लोक में उसे नौ महीने नौ दिन का समय कहा जाता है। जवान बछिया ओसर कहलाती है जो संस्कृत उपसर्या से निकला है ( उपसर्या काल्या प्रजने ३।१।१०४ )। उसे ही

कलोर ( संस्कृत काल्या ) कहते हैं। गाभिन होने के लिये बूना, साहना, धनाना, फलना, बरदाना आदि कई धातुएं बोलियों में चलती हैं। जो ओसर फलने के लिये रेंकती या रम्भाती नहीं और गुम्म गाभिन होती है, उसे असल धेनु समझते हैं। जो बरधाने से न गाभिन हो, न ब्यावे, वह बहल या बहला कहलाती है। फलने के बाद जो रुके या ठहरे नहीं उसे ठांठ कहते हैं। संस्कृत में उसके लिये अवतोका और वेहत् शब्द हैं। बच्चा गिराने के लिये पछाहीं हिन्दी में तूना, अवधी में अड़ाना, बिहारी में निछाना और अन्य बोलियों में छनना, चूना, बहना, आदि धातुएं हैं। जिसके ब्याने का समय निकट हो उसके लिये वैदिक शब्द था प्रवय्या, और जो सांझ सबेरे में ही ब्यानेवाली हो, उसके लिये पाणिनि काल में एक नया शब्द चल गया था अद्यश्वीना ( आजकल में ब्यांतर ५।२।१३ )। लोक में इसी को यों कहते हैं कि बियावर गाय या भैंस एक दो दिन पहले से पुट्ठे तोड़ने लगती है, अर्थात् उसके पुट्ठे की हड्डियां कुछ उठ जाती हैं। पहली बार ब्यानेवाली पहलवन या पहिलौठी कहलाती है। ब्याने के छः महीने तक जब दूध देती रहे, तब धेनु कही जाती है। कात्यायन ने उसके लिये अस्तिक्षीरा शब्द का उल्लेख किया है (भाष्य २।२।२४।२१)। जिसका बच्चा बड़ा हो जाय वह बाखड़ी या पूरब में बखैनी कहलाती है, जो संस्कृत बष्कयणी से बना है। दूध देने वाली गाय को अवधी में लगनी और दूध से भागी हुई को छुटानी कहते हैं। जिसका बच्चा जाता रहे ( मृतवत्सा ) वह वैदिक काल में निवान्या कही जाती थी। श्रौत सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। मेरठ की बोली में वह तोड़ या बिनकट कही जाती है। एक मित्र से ज्ञात हुआ कि पूरबी में अभी तक निवानी शब्द चलता है। देई ( स० देवी ) वह बछिया होती है, जो देवी-देवता के नाम से छोड़ दी जाती है। बियाने पर उसके दूध में रई नहीं पड़ती, यानी दूध बिलोया नहीं जाता। उसका दूध पीते और दही या खीर खाते हैं। स्त्रियाँ नित्त नेम की जो रोटी निकालती हैं उसे देई गौ खा सकती हैं। ब्राह्मण की तरह देई की मान्यता की जाती है, उसे बेचते नहीं। जब दूध पी चुकते हैं, तो या तो अगले ब्यांत के लिये छुट्टा रख लेते हैं या पुन्न कर देते हैं।

सीधे स्वभाव की गाय बहुत पसन्द की जाती है। 'गौ' आज तक हमारी बोलियों में उपमान है। 'गौ है' यह बड़ा सार्थक वाक्य है। दुहने में जो भली मानस हो वह सहेज कहलाती है। वेद में उसे सुदुघा कहा है। पृथ्वी की प्रशंसा में एक जगह कहा गया है कि वह हमारे लिये धन समृद्धि की हजार धाराएँ ऐसे देती रहे जैसे अचल भाव से बिना फड़फड़ाने-वाली गाय ( ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती, अथर्व १२।१ ) गायों में कपिला गाय सबसे सीधी और निरीह मानी गई है। कपिला वह गाय है जिसके सींग कानों के बराबर नीचे को मुड़े रहते हैं। और डुगडुग हिलते हैं। हँसली की तरह सींग होने के कारण यह गाय हँसली भी कहलाती है। सीधी का उलटा कड़वी, मरखनी, मरखा है। ऐसे तेज स्वभाव की गाय के लिये मेरठ की बोली में एक चुस्त विशेषण सुनने को मिला—ईतरी। बड़ी ईतरी गाय है। यह पुराने वैदिक शब्द 'इत्वरी' से बना है। इत्वर का शब्दार्थ है गमनशील। अथर्व वेद में पृथ्वी को 'अग्रेत्वरी' सबसे आगे रहनेवाली, नेत्री कहा गया है ( १२।१।५७ )। ई धातु का अर्थ है जाना, उसी से त्वर जोड़ने से इत्वर, इत्वरी बनते हैं। गमनशील तो अच्छा अर्थ था, उसी

में कालांतर में कुछ हेठा भाव मिलने से चंचल अर्थ हो गया। सूरदास ने उलाहना देनेवाली गोपियों के मुंह से कहलवाया है—'देखि महरि को कह उठीं सुत कीन्हों ईतर'। मेरठ की बोली में ईतरे बालक महावरा खूब चलता है। इतराना इसी से बनी हुई धातु है। झोंकनेवाली चंचल गाय के लिये ईतरी सार्थक शब्द है। भोजपुरी में इसके लिये करकट शब्द है, जो संस्कृत करटा (दुःखदोह्या तु करटा, हेमचन्द्र ४।३३५) से बना है। सब तरह बेऐब सीधी गाय सुथरी कहलाती है।

गाय गर्मी नहीं मानती, पर भैंस घाम नहीं सह पाती। जो गाय भैंस की तरह धूप से घबड़ाकर पानी में खड़ी रहना चाहे वह घामर कहलाती है। जो दूध अधिक दे वह दुधार (दोग्ध्री) और जो घी अधिक दे वह घियाल है। जो दुधार और घियाल दोनों हो उसे कसरीली, और इसके विपरीत घी दूध की हेठी को कट्टा कहते हैं। चुगाई जिसकी देह का मुटापा बढ़ावे वह मुटडंडी कहलाती है। जो छक कर खाने पर ही दूध दे वह करवाल, जो भलीमानस भूखी भी दूध दे दे वह सहेज, और जो एक ही आदमी से दुहने की आदी पड़ जाय वह इकहत्थी कही जाती है। जो मोटी ताज़ी, खा पीकर फरने या तैयार हो वह सांवटी, जो हारी हुई हो वह टोढा, जो बुड्ढी थकी हुई हो वह ढाँढरा या झड़'बा, और जो दिखाने लायक हो वह दिखनौड़ू कहलाती है। इकबांसिया गाय बड़ी घियाल मानी जाती है। रीढ़ के बांस के पिछले भाग में पुट्ठों के मध्य में केवल बीच की हड्डी दिखाई पड़े और पुट्ठों की दोनों हड्डियां मांस में दबी हुई हों, ऐसी गाय इकबांसिया कहलाती है। जो पतला गोबर करे वह बिसैली कहलाती है। यास्क के निरुक्त में पानी के १०१ नामों में विष भी है। जान पड़ता है कि बहुत पुराने समय में बिसैली शब्द लोक की भाषा में चालू रहा होगा। पीछे चलकर विष शब्द का पानी अर्थ व्यवहार में नहीं रहा। चारों थन इकट्ठे जुड़े हुए हों तो कुल्हियाए थन कहलाते हैं। पपैया थन वे होते हैं जिनमें एक थन के अगले हिस्से में दो भाग हो जायँ, जड़ एक हो, दूध के सोत दो हों, और एक के दबाने से दोनों में से धार निकले। जिसके कुदरती दो ही थन हों वह बेलनी कहलाती है। सिर्फ तीन थनवाली को तेथनी कहते हैं। सींगों के कारण भी गायों के नाम पड़ते हैं पर वे शब्द बैलों के लिये विशेष रूप से काम में आते हैं। जो सीधे ऊपर को उठे हुए हों वे सलाये सींग कहलाते हैं। एक सींग ऊपर एक नीचे को हो तो सरगपताली नाम पड़ता है। सींगों की गठियासी बंध जाय तो उसे कैंडी और जिसके सींग पीछे को जाकर आगे को मुड़ें उसे मुहरी कहते हैं।

( ३ )

गाय भैंस के शब्द प्रायः एक से हैं। पर कुछ शब्द तो विशेष कर भैंस की प्रकृति या रूप रंग से ही बने थे। गाय की ओसर या कलोर की जगह भैंस की झुटिया कहलाती है। कटस हो तो झोटा कहलाएगा। सींग मुड़ी हुई भैंस को कुब्बी कहते हैं। हेमचन्द्र के अनुसार सींग का एक पर्याय कुणिका भी था (४।२२९)। सम्भवतः दरांतीनुमा सींगोंवाली भैंस के लिये यह शब्द चला। सींग मुड़कर यदि बल जाँय तो उसके लिये मुर्रा और खुण्डी शब्द हैं। लोक में नरदक की खुण्डी भैंस प्रसिद्ध है। नरदक की भैंस, जंगल की घोड़ी, नागौर का बैल ये नामी हैं। जंगल से मतलब बीकानेर—राजस्थान का जंगल हो सकता है जहाँ के राजा जंगलधर पातशाह कहलाते थे। एक पंजाबी लोक गीत में खुण्डी भैंसों का सुन्दर वर्णन मिलता

है—"राभां की भैंसे हूर और परी के समान हैं। उनके सींग मुड़ मुड़कर कुण्डे हो गए हैं, मानो सुनार ने अँगड़ी या कड़े बनाये हों। भैंसों का दूध क्या है, शरबत सा मीठा है। उनका घी तो देखो, मिस्री की डली है। जिस समय बाहर जंगल में चरने जाती हैं, अत्यन्त सुन्दर लगती हैं; और जब घास खाकर लौटती हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानो बारात में दुल्हे को देखने के लिये लड़कियां उमड़ रही हों।"[२]

जिसके माथे पर सफेद टीका हो, वह भैंस टीकली और जो गूगली रंग की हो, वह लोई होती है। भैंस की पूंछों के बालों का झुग्गा उसके शेष रंग से अवश्य भिन्न होता है। जिस भैंस का यह झुग्गा भी काला हो वह सौंकाली या कलपूंछी कही जाती है। जो सदा अपनी पूंछ एक ओर को डाली रहे, वह नङ्गी या गंडउघार होती है। लोई, सौंकाली, गंडउघार तीनों असहनी अर्थात् अशुभ समझी जाती हैं। पहलवन भैंस झुटिया और तीसरे ब्यांत की लैन कहलाती है। ब्याई हुई ब्यांतड़ और बिकनेवाली बिक्कू कही जाती है। ये दो शब्द गाय के लिये भी समान हैं। दोनों आंखें सफेद हों तो कुंजी और एक आंख सफेद हो तो ताखी कहलाती है। जिस भैंस की टांट से आगे गड्ढा पड़े वह खंदैल और जिसकी टांट (कूबड़) से पीछे गड्ढा पड़े वह कुहेल होती है। कुहेल को भी अशुभ मानते हैं। टूटे सींग की डूंडी और कटी पूंछ की लांडी कही जाती है। ये शब्द गाय बैल के लिये भी हैं। माघ की ब्याई भैंस महावर कहलाती है। भादों की ब्याई गाय और महावर भैंस दोनों अशुभ मानी गई हैं। बहुत दिन की ब्याई भैंस के लिये हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में परिहारिणी (चिरप्रसूता-महिषी) शब्द दिया है, परन्तु लोक में बाखड़ी या बखैनी ही चालू है। देशीनाममाला में और भी कुछ अपभ्रंश शब्द आए हैं, जो उस समय में देशी भाषा में चलते थे पर अब लुप्त हो गए हैं। उसके अनुसार दुद्धोलणी वह गाय या भैंस हुई जो एक बार दुहने के बाद फिर दुही जा सके। जो बहुत दूध की गाय हो वह पड्डुत्थी, या जो बछड़े के लिये थन में दूध चुरा कर रख ले वह पड्डुत्थी कहलाती थी।

गोशाला के लिये लोक में सार शब्द है, जो शाला का ही रूप है। इसे गोठ (सं० गोष्ठ) खरक, बगार (वह स्थान जहाँ गाएं बांधी जाती हैं, शब्द सागर पृ० २३५५), गोवाट भी

---

२—मज्झीयाँ सज्झीयाँ नां, रझियां, सारा जग्ग आहँदा वे।
तेरीयाँ मज्झीयाँ नां, चाकावे, हूरां ते परीयां।
सिंग तां मज्झीयां दे वल वल कुण्डे हो गये वे।
ज्यों ता वंगा, चाकावे, सुनियारे ने घड़ियां।
दुद्ध तां मज्झीयां दा, चाकावे, मिस्री दीयां डलीयाँ।
घियो तां मज्झीयां दा, चाकावे, मिस्री दीयां डलीयां।
बाहर जांदीयां जंगल वेला सुहांदीयां।
घा खा के मज्झीयां घरांनूं मुड़ियां,
ज्यों जञवलाहे नूं तुक्कोयां कुड़ीयां॥
(यह लोक-गीत मुझे श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी की कृपा से प्राप्त हुआ था।)

कहते हैं। देशी नाममाला (५।८) में तहल्लिश्रा शब्द गोठ के लिये हैं, पर लोक भाषा में मुझे वह नहीं मिला। राजस्थान में उसके लिये नोहरा शब्द भी हैं। नोई का श्रर्थ है बांधने की रस्सी, और हरा सं० गृह से है अर्थात् वह स्थान जहाँ पशु बांधे जाते हों।

( ४ )

बैल भारतीय किसान के जन्म के साथी और सखा रहे हैं। किसान के जीवन की गाड़ी खींचनेवाला बैल किसान के लिये ऐसा ही है जैसा देह के लिये प्राण। जसहर चरिउ के कर्त्ता पुष्पदन्त कवि ने बैल की प्रशंसा में ठीक ही कहा है :

**विण धवलेण शयडु किं हल्लई। विणु जीवेणु देह किं चल्लई ॥**

धौले के बिना कहीं छकड़ा हिलता है ? जीव के बिना कहीं देह चलती है ?

असाढ़ में पानी बरसने के बाद खेत की पहली फाड़ पांसा कहलाती है। आसाढ़ी की जुताई के लिये ही पांसा की उपाड़ शब्द है। पांसा की जुताई बड़ी कड़ी मानी गई है। तमाम जंगल एक साथ जुताई में आ जाता है और काम की मारामार रहती है। उस गाढ़े समय में दो ही प्राणी हिम्मत नहीं हारते, या तो दधीचि की हड्डी से बने किसान या उनके दृढ़ बैल। उस समय बैल की कमाई से कृतज्ञ किसान का हृदय कह उठता है—

**भैया, गाय के जाए कू बड़ी खुदाई है।**

बड़े बूढ़े कह गये हैं 'गेहूँ कू बीस बाह, ईख कू तीस।' यदि बैल न होते तो कौन छातीफाड़ कर खेतों की असाढ़ी के लिये बीस-बीस तीस-तीस बाहन देता। कराल हल जब खड़े हुए चलते हैं तब बैलों पर भारी जोर पड़ता है, पर फिर भी खेतों में खूँड़ खींच कर हलाई भरते हुए उनके पौरुख नहीं थकते। ऐसे ही माघ पूस के जाड़ों में चरसिये और कोलिये किसान बैलों के बल बूते पर कुओं को खेतों में उलीच कर रख देते हैं।

किसान का विश्वास है कि यदि गाय की पहली कील (बियाने के बाद का दूध) बछड़ा पी ले तो कैसा ही कड़ा काम हो पसीना नहीं ला सकता। घर के बछड़ों को किसान बहुत ही प्यार करता है। उसका विचार है कि मामा भांजे की जोड़ी बड़े भाग्य से मिलती है। एकही गाय से उत्पन्न बछड़ा बछिया हों तो बछड़ा मामा हुआ और बछिया का बछड़ा भांजा हुआ। मामा-भांजे की जोट हल में जोत कर किसान फूला नहीं समाता, मानों वह गोई उसके गोपालन की साक्षी भरती है। बाछा ( सं० वत्सक ), बछड़ा ( वत्स, अपभ्रंश प्रत्यय डा ), बाछरू-बछरू ( सं० वत्सरूप ), बछेड़ा (सं० वत्सतरक) बछेड़ ( सं० वत्सतर + रूप ) आदि शब्द बोलियों में गाय के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं। बच्चा जब तक घास नहीं खाता, केवल दूध पीता है, तब तक पाणिनि के अनुसार उसकी शकृत्करि संज्ञा थी। मेरठ की बोली में उसे लवारा, भोजपुरी में लेरु कहते हैं। उसके लिए प्राचीन वैदिक शब्द था अतृणाद ( बृ० उप० १।५।२ ) दूध पीने तक वह वत्स या बाछा रहता था। दूध छोड़ने के बाद बछड़ा (वत्सतर) कहलाता था। दो ढाई बरस तक के बछड़े के लिये वैदिक काल में दित्यवाह् शब्द था। पाणिनि ने भी इस शब्द का उल्लेख किया है (७।३।१)। परन्तु दित्य क्या था यह स्पष्ट नहीं होता। सम्भवतः बछड़ों के गले में बांधा जानेवाला डेंगुर दित्य शब्द से (दा बन्धने धातु + त = दित; जो बांधने योग्य हो वह दित्य) अभिप्रेत था।

बछड़ों और बैलों के दाँतों से उनकी उमर की पहचान की जाती है। जन्म के समय गर्भ में से आठ दूध के दाँत होते हैं। जब तक सच्चे टिकाऊ दांत नहीं निकलते तब तक उसे उदन्त या अदन्त कहते हैं। सात दांत का उदन्त माना गया है :—

**सात दांत उदन्त को रंग जो काला होय।**
**इनको कबहुँ न लीजिये दाम चहै जो होय॥**

दूध के दांत गिरने के बाद ढाई वर्ष की उमर के लगभग बछड़ा दांतता है। पहले दो दांत निकलते हैं और तब उसे दुदन्त ( द्विदन् ) कहते हैं। जो कुछ पहले ही दुदन्त हो जाते हैं उन्हें भरकदन्ता कहते हैं। भरकदन्ते का उल्टा ऊना होता है। ऊने पर जुआ नहीं रखते। उदन्त गाय का ब्याना बरदाना भी अशुभ है :—

**उदन्त बरदै उदन्त ब्याय। आप जाय या खसमै खाय॥**

दाँतों का हिसाब इस प्रकार है :—

| आयु | दाँतों की संख्या | नाम |
|---|---|---|
| २से २½ वर्ष | २ | दुदन्त ( सं० द्विदन् ) |
| ३ वर्ष | ४ | चौदन्त ( सं० चतुर्दन् ) |
| ३½ वर्ष | ६ | छहर ( सं० षोडन् ) |
| ४ वर्ष | ८ | सं० अष्टदन् |

आठ दांत भरने पर बैल पूरा समझा जाता है। चतुर बिहारी स्त्री ने पति को समझाया, हे कान्त! बैल लेना हो तो दुदन्त बैल बिसाहना ( बैल बेसाहै चललह कन्त। बैल बेसाहिह दू दू दन्त॥ )

संस्कृत के षोडन् ( छः दांत वाला ) के वज़न पर हिन्दी में छहड़, सहड़, नौदड़ शब्द चालू हैं। ये तीनों असैने समझे जाते हैं। मेरठ की ओर कहा जाता है :—

**छहड़ सहड़ सूं कहै चलो मुसर घर जाय।**
**घर के अपनी हैंक में पहले पड़ोसी खांय॥**

मुसर, वह बैल जिसकी पूंछ का रंग शरीर के रंग से भिन्न हो। हैंक = हलक। इसी का अवधी रूप इस प्रकार है:—

**छहर कहै मैं आऊं जाऊं। सहर कहै गुसैयें खाऊं॥**
**नौदर कहै मैं नौ दिस धाऊं। हित कुटुम्ब उपरोहित खाऊं॥**

बछड़े के जवान होने, बढ़ने और पूरा बैल बनने तक की अवस्थाओं के सूचक कुछ चुस्त शब्द पाणिनि से प्राप्त होते हैं। जो बछड़ा जवानी के उठान पर हो वह जातोक्ष, जो यौवन में भर जाय वह महोक्ष, और जो पूरा बिजार ( सांड़ ) बन जाय वह वृद्धोक्ष कहलाता था। इसी तरह जिसको नाथ कर बैल बनाना होता था उसकी भी तीन सीढ़ियाँ थीं—वत्स, दम्य, बलीवर्द। जवानी आने पर बछड़ों को जब नाथा जाता है तबसे

उन्हें नाथहरि कहते थे। बछड़े के जीवन में नाथ डालना महत्वपूर्ण संस्कार था। दम्य हिलावर कहलाता है। बिना हिला हुआ अनट कहा जाता है। नया नया बैल अलल (सं०आर्द्रार्द) या अलल बछेड़ा कहलाता है। जिसका कद और उठाव दबा हुआ रह जाय वह नटिया और जो पूरा कद्दावर हो वह धुरंधर कहलाता था। नटिया बैल को देख कर खेत में खड़ी दूब भी किसान से हँसी करती है—

> **नटिया बरद छोटिया हारो। दूब कहै मोर काह उखारी॥**
> **बाछा बैल बहुरिया जोय। ना घर रहे न खेती होय॥**

अतएव किसान के लिये यह सीख है :—

> **नाटा खोंटा बेचि कै चारि धुरंधर लेहु।**
> **अपना काम निकारि कै औरहु मंगनी देहु॥**

बैल के लिये रगड़न्त का काम होना चाहिए। खूंटे से बँधे-बँधे बछड़ा मठर पड़ जाता है, जैसे पड़े-पड़े जवान आदमी की तोंद निकल आती है—

> **बांधा बछड़ा जाय मठाय। बैठ ज्वान जाय तुंदियाय॥**

अच्छे बैलों की पहचान गावों में बड़ी कला और चतुराई समझी जाती है। छोटा मुँह, ऐंठा कान, यही बैल की है पहचान। अथवा, जिसका ललाट उभरा हुआ, सींग मुड़े हुए छोटे, मुँह गोल, रोएँ नरम और कान चंचल हों ऐसा बैल चलने में ततैया और अनमोल होता है[३]। जिसकी रान मोटी, पिंडली पतली और पूँछ लम्बी भूमि में खिचड़ती हो उस बैल के मालिक को देखकर दूसरे सिहाते हैं[४]। जिसकी देह भारी हो, पैर छोटे हों वह सुअरगोड़ा कहलाता है, उसके मुँह माँगे दाम होते हैं[५]। जिसके खुरों का रंग बैंजनी हो वह बैंगन खुरा बहुत मजबूत होता है[६]। कंधे का नीला, देह का गठीला, आँखों का चमकीला बैल पूरा मर्द समझा जाता है; तिसपर यदि उसका लंगोट कसा हुआ हो तो कहना ही क्या[७]। बैल का लंगोट (पूंछ का निचला हिस्सा) काले रंगका अच्छा माना गया है। काला कछौटा हो, सुन्दर धौला रंग हो तो फिर ऐसे बैल को छोड़कर किसान को और क्या चहिए? उसी के साथ यदि कानों पर लम्बे बाल

---

**३—सींग मुड़े माथा उठा मुँह का होवे गोल।**
**रोम नरम चंचल करन तेज बैल अनमोल॥**

**४—पतली पेंडुली मोटी रान। पूँछ होई भुंई में तरियान॥**
**जाके होवे ऐसी गोई। वाको तकैं और सब कोई॥**

**५—मोटी रोवां पतरी पूँछी सुअर गोड़ा जो पाए।**
**मांगन वाला जितनहू मांगे उतनेहू दाम दे आए॥**

**६—नीला कंधा बैंगन खुरा। कबहुँ न निकलै कंता बुरा॥**

**७—फैंट बंधीला देह गठीला आँखों का चमकीला।**
**भाखै मानकचन्द मरद हैं बर्ध कंध का नीला॥**

हों तो सोने में सुगन्ध ही समझिए[८]। काले कछौटे से ही क्या हुआ जबतक बैल की आँखें भी काली न हों[९]। उसकी कजरारी आँखों में रगड़ा सा गिरा हुआ जान पड़ता है। जिसकी रीढ़ दबी हुई हो वह बैल बड़ा जोरावर होता है। ऐसी रीढ़ को बरार (नीची) कहते हैं[१०]। इससे उल्टा बांसड़ा है जिसकी पीठ का बाँस उभरा हुआ होता है। जल्दी थक जाने के कारण वह हरवाहे को रुला डालता है[११]। बैल का ढीला मुतान देह के ढिल्लड़पन का सूचक है। खूब कसा हुआ हिरनमुतान बैल अच्छा माना गया है। ऐसा बैल मिले तो अनबूझे ले लेना चाहिए[१२]। पतली पूँछ का बैल पटुआ कहलाता है। पटुआ बैल देखते ही थैली खोल देनी चाहिए[१३]। बड़सिंगा बैल मत खरीदो चाहे यों हीं रुपये खोल कर कूएँ में फेंक दो[१४]। पर ठिंगने सींगवाला मिले तो अवश्य ले लेना चाहिए[१५]। जिस बैल के सींग आगे की ओर झुके हों उसे मेरठ की ओर भूंगा, अवधी में घोंची कहते हैं। ऐसा बैल नदी पार दिखाई पड़े तो इसी पार थैली खोल कर रुपये गिनने के लिये तैयार रहो[१६]। मिल जाने पर उसके बेंचने का सवाल ही नहीं उठता[१७]। जिसके सींग गिरनेवाले या गिरैला हों, वे गिर कर ही रहते हैं, रुकते नहीं। सींग की शोभा मुकटा बैल के मस्तक पर दिखाई पड़ती है। उसके सींग कमान की तरह अन्दर मुड़कर फिर थोड़ा ऊपर उठकर आपस में मिल जाते हैं और ऐसे लगते हैं जैसे तोरण हो। ऐसे बैल को किसान विष्णु का रूप मानते हैं। जिसका एक सींग ऊपर एक नीचे की ओर हो वह सरग पताली कहा जाता है। इसी को कंसासुरी भी कहते हैं जो अच्छा नहीं समझा जाता[१८]। टेढ़ी भौंहोंवाला (भौंआटेर) बैल भी मालिक पर दाँत रखने से अशुभ है। सींग कानों के बराबर नीचे को दबे हों तो ऐसा

---

८—करिया काछी धौरा बान। इन्हें छांड़ि जनि बेसह्यो आन॥
करिया कछौटी सुभरे बान। इन्हें छांड़ि जनि बेसह्यो आन॥
बिहारी भाषा में भी कसे हुए और काले काछ वाले बैल की प्रशंसा है।
काछ कसौटी सांभोर बान। ई छांड़ि किनिहि मत आन॥

९—बैल लीजे कजरा। दाम दीजे अंगरा॥

१०—श्वेत रंग और पीठ बरारी। ताहि देखि जनि भूल्यो अनारी॥

११—बाँसड़ औ मुँह धौरा। उन्हें देखि चरवाहा रौरा॥

१२—हिरन मुतान औ पतली पूँछ। बैल बेसाहो कन्त बेपूँछ॥

१३—जहँ देखै पटवा के डोर। तुरतहिं छिहै थैलिया छोर॥

१४—बड़सींगा जनि लीजौ मोल। कुएँ में डारो रुपिया खोल॥

१५—छोटे सींग औ छोटी पूँछ। ऐसे का बेसह्यो बे पूँछ॥

१६—घोंची देखै वहि पार। थैली खोले यहि पार॥

१७—जिसके सींग न्यूँ। उसे बेचै क्यूँ॥ न्यूँ = इस तरह के, तर्जनी और मध्यमा उँगलियों को बीच से मोड़ कर भूँगा के सींगों की अनुकृति।

१८—सरगपताली भौंआ टेर। अप्पन खाय परौसिया हेर।

बैल कनचप्पी या मीना कहलाता है[१९]। बिहारी भाषा में इसे ही मैना कहते हैं। सड़क के उस पार मैना बैल देखना तो इसी पार से लेने देने की बात चला देना[२०], क्योंकि यह जरूर अच्छा निकलेगा।

मेंड़ की तरह उमेठवा सींगवाला बैल मेंड़वा या मेंढ़वा, बिना सींग का भुंडा या मुंडा, छोटे सींग का मुठिया या मुठहरा, बालों से ढंके कानवाला झबरा या झूतरा, कटी पूँछवाला बांडा या लांडा, एक सींगवाला एकसिंघा कहलाता है।

रंग के हिसाब से भी बैल के गुण, दोष पहचाने जाते हैं। बिल्कुल धवल या सफेद रंग का बैल अनमोल है। उसके लिए मांगनेवाला जितना मांगे चार टका और ऊपर गिन देना चाहिए[२१]। जाट गूजरों की ठेठ किसानू बोली में बैल के लिये धौला बहुत ही प्रशंसा सूचक शब्द है। लाल रंग के बैल के लिये अवधी किसान चट से अपनी थैली खोल देना चाहता है, पर उसका बिहारी भाई खूब उठ बैठ कर उसे अच्छी तरह देख लेने के पक्ष में है[२२]।

बैलों के जो रंग किसानों को नहीं रुचते उनमें महुअर (महुआ जैसा पीला मुख्य है। 'मुंह का मोटा, माथे का पीला, ऐसे बैल के लिये, प्रिये, तुम्हारी क्या सलाह है?' 'चल जाय तो आधा दाम, नहीं तो पैसा पानी में गया[२३]। ऐसा बैल धरती क्या जोत सकता है, एक दो हराई (हल की खूड) भले ही खींच दे; तुरंत मेंड़ पर बैठकर पागुर करना चाहेगा। जिसकी बरौनी (पलक के बाल) सफेद हों, हलवाहे को उसके साथ भी झींकना पड़ेगा। भूरे रंग का बैल भी अच्छा नहीं समझा जाता[२४]। बिहारी किसान की स्त्री उस काले बैल की

---

१९— मियनी बैल बड़ो बलवान। तनिक में करिहै ठाढ़े काम॥

२०—जब देखिह मैना। तब एहि पार सें करिह बैना॥

२१—जहाँ देखिहो रूपा धंवर। टका चार बरु दीहअ अवर ॥अवधी॥
जब देखिह रूप धौर। टका चार दीह उपरौढ़ ॥ बिहारी॥

२२—जहां वां देखिह लोह बैलिया। तहँवां दीहा खोलि थैलिया॥
जब देखिह बैरिया गोल। उठ बैठ के करिह मोल ॥ ग्रियर्सन, बिहार पेजेंट लाइफ, पृ० २६०। बैरिया—लाल बेर के रंग का।

२३—मुंह का मोट माथ का महुअर। इनहू का कछु कहब बहुअर॥
चलै तो आधा दाम तरे। नहीं दाम पानी में परे॥ (अपने पूज्य गुरु श्री पं० जगन्नाथ जी से प्राप्त पाठ)
मुंह का मोट माथ का महुआ। इन्हें देखि जनि मल्यौ रहुआ॥
धरती नहीं हराई जोते। बैठ मेंड़ पर पगुरु करै॥ पं० रामनरेश त्रिपाठी का पाठ, हमारा ग्राम साहित्य पृ० ३९२
उजर बरौनी मुंह का महुआ। ताहि देख हरवाहा रोआ॥ पं० श्रीकृष्ण विशारद का पाठ, भाव और मजूरी की कहावतें १—४६

२४—बैल बेसाहन आओ कन्ता। भूरे का मत देखौ दन्ता॥

ओर से सावधान करती है, पर उसकी अवधी बहिन करिया बैल को सत्यानाशी की निशानी समझती है[२५]। चितकबरा बैल भी घटिया है, जिसके लिये मोल भाव करने या दांत देखने की जरूरत नहीं[२६]। खैरा बैल अवध और बिहार में कत्थई रंग का होता है। मेरठ की ओर गहरे पीले कत्थई रंग को गोरा कहते और आसमानी रंग के बैल को खैरा कहते हैं। खैरा सब दोषों की खान है। जहाँ उसकी खुरी पड़े वहीं सब चापर हो जाता है। अगर गोठ में खैरा कुछ देर के लिये भी आकर बँध जाय तो बुहारी लेकर उसकी लार साफ कर डालनी चाहिए। सम्भव है खैरे के प्रति यहाँ कुछ अन्याय किया गया हो[२७]। कभी-कभी तो वह अच्छा चलवैया देखने में आता है। मेरठ की तरफ मुसरिया वह बैल होता है जिसकी पूंछ में सफेद और काले रंग के गंडेदार बाल हों। ऊपर सफेद नीचे काले हों तो मुसरिया। लेकिन अगर ऊपर काले, नीचे सफेद बाल हों तो वही चौरा कहलाता है। मुसर बैल को पछाँह में और पूरब में सब जगह असैना समझते हैं। छद्दड़ सद्दड़ से सलाह करता है, चलो भाई मुसर के घर चलें और उसकी मदद से मालिक को जपकर फिर पीछे पड़ोसियों को समझें। जो कोई मुसरहा बैल खरीदेगा वह राजा भी हो तो पलभर में छत्रभंग हो जायगा। वह ऐसा विकट चापरकरन है कि स्त्री बच्चे घरबार छुड़ाकर भीख मंगवा देता है[२८]। जो बैल माथे पर दगीला हो वह सौंख कहलाता है। वह भी बड़ा करामाती है, मुसरहे की भाँति ही मालिक को ललकारता है[२९]। अशुभ बैलों में उनासवा की भी गिनती है। जिसकी एक या दो पांसू अर्थात् पसली छोटी हों वह उनासवा (ऊनपार्शुक) कहलाता है। अवधी में इसे नासू कहा गया है। वह राज्य बिलट कर राव से रंक कर डालता है[३०]। पुछकटा बैल बाँड़ा कहलाता है। जिसके लम्बे चौड़े शरीर में हड्डी ही हड्डी दिखाई देती है और जिसके गाँव भर तक फैले हुए सींग, जान पड़े, छान का छप्पर भी उठाकर फेंक देंगे, उस बैल के लिये किसान ने अपने प्रेम का व्यर्थ प्रयोग नहीं किया[३१]। पर सच पूछिये तो किसान जिससे रो देता है वह गादर बैल है। जिसके पल्ले गादर पड़ जाय वह भाग्य का पोच है[३२]। उसे राज छोड़कर जोग साधना पड़ता है। जब गादर की कृपा से खेती बाड़ी कुछ पूरी न पड़ेगी, तब जोग तो साधना ही हुआ। गादर की माया

---

**२५—करियठ का कुछ कहब जोय। तबहु वृहियर जावै खोय॥**

**२६—बरद बेसाहन जाओ कन्ता। कबरे के जनि देखहु दन्ता॥**

**२७—बरद बिसाहन जाओ कंता। खैरा का जनि देखो दंता॥**

**जहाँ परै खैरे की खुरी। वो कर डारै चापर पुरी॥**

**जहाँ परै खैरे की लार। बढ़नी लेके बुहारो सार॥**

**२८—बैल मुसरहा जो कोई लेय। राज भंग पल में कर देय॥**

**त्रिया बाल सब कुछ छुट जाय। भीख मांग के घर-घर खाय॥**

**२९—सौंख कहै मोर देख कला। वे मेहरा का करौं घरा॥**

**३०—नासू करै राव का नास।**

**३१—डग डग डोलन फरका पेलन कहाँ चले तुम बांडा।**

**पहले खाइब रान पड़ोसी गोसैंए कब छांडा॥**

अपरम्पार है। किसान कितना ही चुस्त हो गादर पल्ले पड़ जाय, तो धुरियाधाम किए बिना नहीं छोड़ता, किसान का सारा काम पट्ट हो जाता है। गादर को आलस्य का अवतार ही समझिए—

**इक दिन रहा अदिनकर फेर। तारा पर हमचरी अनेर ॥**
**केहू बटोही हर हर कीहा। अस कै गिरै चेत नहीं रहा ॥**
**चरवाहे पुपुई लायन जाय। घर से गुसैंया खटिया ले आय ॥**
**सात पाँच जन लिहेन उठाय। लैगे गुलौरी में दिहेन बहाय ॥**
**आगि लागि हम भितरहिं जरे। जुआ देखि के नाहिंन निकरे ॥**

'एक दिन हम ताल के किनारे छुट्टा चर रहे थे। बदकिस्मती से किसी बटोही ने हर हर शब्द बोल दिया। हमने क्या समझा कि हल आ गया। ऐसे गिरे कि होश न रहा। चरवाहों ने पोई पोई करके बहुत हल्ला मचाया, तब घर से मालिक खटिया ले आए, हमें लादकर घर ले गए और गुड़गोई में लिटा दिया। संयोग से वहाँ आग लग गई, हम वहीं जल मरे, पर टस से मस न हुए।' गादर बैल की काम के प्रति जो मनोवृत्ति होती है, उसका चित्र उसी के शब्दों में सुनने लायक है—

**छाती फाटै खुर भरोय। खरी बिनौरा के मोरे खाय ॥**
**डंडा चार बबुर के सहबै। राजा होय गोरुन में रहबै ॥**

'हल हेंगा खींचने से छाती फटी जाती है, खुर चिर जाते हैं। कौन खली बिनौले के लालच में पड़ कर झंझट मोल ले, भले ही बबूर के चार डंडे की मार पड़े। अपने राम को तो गोरुओं के बीच मस्त घूमने दो।' जो गादर होते हैं, ऐसा उपद्रव करते हैं कि कुछ पूछो नहीं; कितना ही मारो आगे पैर नहीं उठाते। जब मारने लगो तो और चार पैर फैला देते हैं कि जितना मारना हो मार लो।

गादर को गरिआर भी कहते हैं। पछांह में उसके लिये गलिया शब्द है, जो संस्कृत गलि से बना है। गादर के मुकाबले में मेहनती बैल को देखकर किसान को कुछ हिम्मत बँधती है। जिसके छोटे कान हों और पूँछ में बालों की झप्पा झूलन हो, ऐसा बैल मेहनती होता है[33]। किसान के लिये तड़कने-भड़कनेवाले, चौंकने-चमकनेवाले बैल अच्छे नहीं। उनकी वजह से कुएँ में, गाड़ी में जान-जोखिम हो सकता है[34]। मरखना या मरकहा बैल रखने से

---

**३२—वह किसान है पातर। जो बरदा राखै गादर ॥**
**ताखा भैंसा गादर बैल। नारि कुलच्छनि बालक छैल ॥**
**इनसे बाचैं चातुर लोग। राज छाड़ि के साधैं जोग ॥**
**३३—पूँछ झब्बा औ छोटे कान। ऐसे बरद मेहनती जान ॥**
**३४—बैल चमकना जोत में औ चमकीली नार,।**
**ये बैरी हैं जान के लाज रखै करतार ॥**
**बैल तरकना टूटी नाव। ये काहू दिन देहैं दांव ॥**

रोज न रोज कोई उलाहना लिए खड़ा रहेगा[३५] । जो लात चलावे वह लतहा होता है ।

खूब कोख तानकर खानेवाला बैल चारू कहलाता है । किसानों का अनुभव है, चारू सो मारू, जो खूब चरता है वह देह में भी तगड़ा रहता है । चारू का उल्टा मनचर अर्थात् कम खानेवाला होता है, जो खाते समय राल बहुत गिराता है, वह रालू कहलाता है । जो बैल भीतर से रस निकाल कर मुँह से गिराते रहते हैं, वे रसउगाल होते हैं ।

बैल को रखने की भी युक्ति है कि जिससे वह दीर्घजीवी बन सकता है । सार या गोठ को बरसात आने से पहले ही छवा लिया जाय, भूसा रखने का भुसैला भी छवा कर सूखा कर लिया जाय, चौरस धरती में खेत बनाया जाय, किसान का बेटा स्वयं चरावे, भादों के मेंह में भी बैल बाँधने का स्थान सूखा रखा जाय, तो बैल बीस बरस तक काम देगा[३६]। यदि खरक में धूप, धूल और धुवें का प्रबन्ध हो तो बैल पच्चीस बरस तक तगड़ा रहेगा । इतना प्रबन्ध करने से मच्छड़, मक्खी, डाँस बैल को तंग नहीं करेंगे और गोरू सार में पूरी नींद और आराम पाएँगे[३७] । बैल का एक कौल और है—यदि मुझे छोटे मोटे खेतों में न जोतोगे, यदि मुझे दाहिनी ओर न नाथोगे और यदि गायों को मुझसे न मिलाओगे, तो मैं बीस बरस तक बरदई साधने का दम भरता हूँ[३८] । बैल ने ये तीन वचन किसान की भाषा में सूत्र रूप से कहे हैं । पूरे अर्थ तक पैठने के लिये इनकी व्याख्या आवश्यक है । पहला वचन बैल ने मांगा कि मुझे छोटे खेतों में मत जोतो । खेत की जुताई के लिये जब हल चलाकर खूड बनाते हैं तो उसे हलाई भरना या कहीं मांग भरना भी कहते हैं । हलाई खेत के बीच से शुरू होकर बाहर की तरफ फैलती है । मेंड़ या डौले के बराबर तीन-चार खूडों की धरती छूटी रह जाती है, उसे धीरा कहते हैं, जिसे आखिर में जोता जाता है । हलाई लम्बोतरी पड़ती है और खेत के कोने पर बैल को हर बार मुड़ना पड़ता है । खूड के घुमाव या मोड़ को मोड़ा कहते हैं । चारों कोनों पर खेत का जो भाग छूट जाता है उसे भी जोतना जरूरी है । बीच की जुताई के अन्त में किसान प्रत्येक कोन से बीच की ओर हल चला कर प्रत्येक मोड़ पर छूटी हुई धरती या मोड़े की हलाई भरता है । इसे मोड़े काटना कहते हैं । अगर खेत का एक ही बड़ा चक हो तो बैल को सीधी हलाई करनी पड़ेगी और अन्त में सिर्फ एक बार मोड़े काटने पड़ेंगे । लेकिन अगर बीस बीघे की जोत बैल ने की और बीघे बीघे भर का खेत हुआ तो हर बार मोड़े काटने से बैल मर मिटेगा । इसीलिए उलिया कुलिया खेत ( अंग्रेजी स्माल होल्डिंग ) का जोतना बैल ने अपने लिये जानमारू काम समझा । बार बार मुड़ना बैल के मस्तिष्क और शरीर के लिये अच्छा नहीं । इसीलिए दांय चलाने या अनाज की मणनी करने में भी बैल घबड़ाता है ।

---

**३५— बैल मरखना चमकुल जोय । वा घर ओरहन नित उठि होय ॥**

**३६—समरथ जोते पूत चरावै । अगते जेठ भुसैला छावै ॥**
**भादों मास उठे जो गरदा । बीस बरस तक जोतो बरदा ॥**

**३७—धूप धूर धूवां जो जहवां । बरद पचीस बरस रह तहवां ॥**

**३८—ना मोंहि नाथो उलिया कुलिया, ना मोंहि नाथो दाएं ।**
**बीस बरस तक करौं बरदई, जो ना मिलिहैं गाएं ॥**

कोल्हू के बैल की तरह खेती के बैल को जब घूमना पड़ता है, उसके कूल्हे थक जाते हैं। उसका दूसरा कौल है—मुझे दाहिने मत जोतो। बाएँ हाथ का बैल उपराली और दाएँ का तरवाली कहलाता है। हल्का बैल उपराल में और तगड़ा तरवाल में नाधा जाता है। तरवाली को हल-जुए में ज्यादा जोर लगाना पड़ता है। मोड़ पर पहुँचकर बाँया बैल तो खड़ा होकर मुड़ जाता है, पर दायें को अधिक चलकर जुआ खींचना पड़ता है। इसलिए हमेशा दाँया नाधना बैल की जान खींच लेता है। अगर उलिया कुलिया खेत हुए तो बार बार के मोड़ पर दाहिना बैल मर मिटेगा। दाएँ का एक अर्थ दाँय चलना या मणनी भी होता है। यह काम भी बैल के लिये बड़े कसाले का समझा जाता है[३९]। संस्कृत में जिसे सीता कहते हैं बोली में वह खूड कहलाती है। जब हल खूड की तरह जाता है तो उपराली बैल को आहां आहां कहा जाता है। इसे ओनाना कहते हैं। जब पहली खूड से हल हटकर चलता है और खूड मोटी पड़ने लगती है, तब तरवाली याने दाहिने बैल को तिकतिक का इशारा देकर हाँकते हैं। इसे तिकारना कहते हैं। किसान बैल की भाषा और बैल किसान की भाषा समझते हैं। कबीर ने कहा है—'आंहां समझे तिकतिक समझे पुचकारे से होय खड़ा। कहे कबीर सुनो भाई सन्तो मूरख से तो बैल भला॥'

बैल ने दीर्घायु के लिये किसान से जो तीसरा कौल भराया वह है मनुष्य,पशु सबके लिये एकसा जीवन का नियम अर्थात् ब्रह्मचर्य। अथर्व वेद के ऋषि ने जगत् में व्यापक इस मूल्यवान् तत्व को पहचानते हुए कहा था—पृथ्वी में, आकाश में, जंगलों में, गावों में विचरने वाले जो पशु और पत्ती हैं, वे ब्रह्मचारी हैं, अर्थात् जीवन के विकास के लिये प्रकृति ने जो नियम स्थिर किए हैं, उनका पालन करते हैं। बैल, घोड़ों के लिये भी शक्ति का स्रोत ब्रह्मचर्य ही है। बैल की शक्ति का सच्चा मर्म जाननेवाले ऋषि ने कहा है—

**अनड्वान् ब्रह्मचर्येण**

(अथर्व ११।५।१८)

ब्रह्मचर्य से ही बैल अनड्वान् बना है। अनस् छकड़ा, उसको चलानेवाला अनड्वान्। तिबल्दी गाड़ी में बीड़िया बनकर छाती फुलाता हुआ, काले नेत्रों में प्रसन्नता लिए हुए जब बैल आगे आगे चलता है तब उसकी शक्ति और शोभा देखने योग्य होती है। इसी शाक्वरी (कर सकने की) शक्ति के कारण वैदिक भाषा में बैल की एक संज्ञा शाक्वर थी।

गाय बैलों के लिये किसान का प्यार उनकी सजावट के रूप में प्रकट होता है। वह उनके सींगों को लाल पीले मुंडासे, चेहरे को रंगीन नाथ और गलथनी से, गले को कौड़ियों की माला और जगाधरी की बनी हुई बारीक आवाजवाली चिड़िया—चौंकनी टल्लियों से सजाता है, कन्धों पर झूल डालता है, एवं देह और गले की सासना (गलकम्बल) पर भांति भांति के चित्र लिखता है। जंगल में मठारते हुए, लोटती टांट वाले साड़ों की दडूक में मानों सारे जानपद जन की ध्वनि सुनाई पड़ती है। किसी समय कुरुक्षेत्र, हरियाना, मथुरा, मत्स्य देश के जंगल गायों और बैलों से भरे हुए थे। विराट देश के द्वैतवन में कुरुराज दुर्योधन

---

**३९—मरद निकौनी बरदै दांव। दुभरी चलनी में दुख पाय॥**

**मर्द खेत की निराई में, बैल मणनी में और गर्भिणी रास्ता चलने में दुख पाती हैं।**

की गाएँ छुट्टा चरती थीं। वहीं से राज्य के लिये गो सम्पत्ति प्राप्त की जाती थी। एक बार उसने अपने घोष की जन-संख्या जानने के लिये वहाँ मेला किया, जिसे महाभारत में स्मारण कहा है। पाणिनि ने गायों की गिनती करनेवाले विशेषज्ञ गोसंख्य नामक अधिकारियों का उल्लेख किया है। स्मारण में बछड़े, बछिया, तुरत की ब्याई बाल-गौएं, ग्याभिन ओसर (उपसृता), तीन बरस के जवान बछड़े (त्रिहायन), सबको अलग अलग जानकर उनपर अंक और निशान (लक्ष) लगाए गए जिससे अगले वर्ष फिर उनका मिलान किया जा सके। (वन पर्व २४०।४—६)

गौ के प्रति देश के प्राचीन भावों को फिर हमें प्राप्त करना है। गौ के शतधार झरने को राष्ट्र के नवोदय में सहस्र धार बनाना होगा। कहते हैं वेदों में बहुत ऊँचा ज्ञान है, हो सकता है। पर उस साहित्य में से जीवन के लिये आवश्यक यदि कुछ चुनना हो, तो एक सूक्त लेकर हम सन्तोष करेंगे, जिसमें भारतीय घरों की अधिष्ठात्री शाला देवी का रूप खड़ा किया गया है।

हे गृह देवी, जिस नींव पर तुम टिकी हो, वह घी से सींची गई है। उसी में क्षेम भरा है। तुम्हारे उस रूप में वीरों का निवास है जिनके शरीर कभी रिसते नहीं। हे शाला, तुम गोमती हो, गोधन पर तुम टिकी हो। घी दूध की सबल धार तुम्हारे मंगल द्वार में प्रवेश करती है। तुम वह कोठार हो जिसकी छत ऊंची है और जिसमें फटका पछोरा अन्न भरा है। हे देवीशाला, जिस दिन यहाँ छोटा कुमार आवे, उसी दिन उसका भाई कूदता हुआ बछड़ा भी आवे, और उसके साथ आवे संझा को पन्हाती हुई दुधार धेनु। हवा पानी धूप गर्मी अपना अपना चक्कर चलाती हुई इस घर के जीवन को ठीक रक्खें। हवाओं में जो गीलापन है वह घी बनकर हवा में बरसे और हमारी खेतिहर भूमि सब तरह के धान्य से लहलहा उठे।

हे घर की कल्याणमयी देवी, देवों ने सुमति करके तुम्हें पूर्व में बनाया था, तुमने घास फूस का वस्त्र पहना, वही तुम्हें भाया, और उसी में वीर पुत्र और धन तुमने दिए। तुम्हारे ठाठ का कमरबल्ला (प्राचीन वंश) सत्य के नियम से टिका है। अपने भीतर तुमने जिन्हें पाला-पोसा, वे छीजें नहीं, बल्कि पुत्र पौत्रों के साथ सौ वर्ष तक जिएँ।

हां, इस घर में हमारा तरुण कुमार गाय के बछड़े के साथ आयेगा और फेनिल दूध से भरे गगरे दही के कलसों के साथ आएँगे। हे देवि, घी का पूर्ण कुम्भ यहाँ भर दो जिसमें अमृत की धार मिली हो। फिर घी का माट पीनेवालों के शरीर पर अमृत का पुचारा फेर दो। यक्ष्मा का नाश करनेवाले अमृत को हमारे इन घरों में उंड़ेल दो। (अथर्व ३।१२)

इस गान के सुर में घी दूध की लय है। जिस फूंस के छप्परों में ढाई सौ पीढ़ी सौ-सौ वर्षोंतक जीवित रहीं, वे क्षीर गंगा के तट पर बने थे; उनमें मनुष्य के तरुण कुमारों के साथ गायों के कलोर बछड़े भी जीवन के नवमंगल में साझेदार थे। उनमें फेनिल दूध के मांट और चक्का दही के हंडे गृहस्थ की बंहगी में एक साथ लदते थे। पुर और जनपदों में पनपने वाले भारतीय जीवन के ये सच्चे चित्र थे जब उनमें गौ का शतधार झरना झरता था। आज गौ रूपी दूधिया झरने की घर-घर में बाट देखी जा रही है।

[ सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, कालपी से ]

# भोजपुरी-लोकगीतों में गृहनिर्माण कला

श्री गणेश चौबे

प्रस्तुत लेख में भोजपुरी लोकगीतों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर गृहनिर्माण कला पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

लोक-गाथाओं को छोड़कर अन्य गीतों में लम्बे वर्णनों का अभाव-सा रहता है। फलतः जहाँ कहीं भी गृहनिर्माण का प्रसंग आया है, संक्षिप्त रूप में। सर्वप्रथम हम मंदिर पर विचार करेंगे।

## मंदिर

लोकगीतों में मंदिल या मंदिर कहीं महल के लिये प्रयुक्त हुआ है और कहीं देवल (देवस्थान) के लिये। देव मंदिर का वर्णन लोकगीतों में इस प्रकार आया है:—

मिलहिं री सखिआ सहेलर, सुख-दुख पूछहिं हो।
सखिआ हो, देखि आवहुँ सिब के मंदिलवा, कवन रङ साजल[1] हो॥
पथल के सिव के मंदिलवा, त बँतवे से छाजन[2] हो।
खआ, चनन के लागेला कँवाड़[3], त अगर के चउकठ[4] हो॥

—देवरिया जिला।

इस गीत के पाठान्तर से यह पता चलता है कि शिव का मंदिर बाग में निर्मित था (बगिआ में सिव के मंदिलवा)। गिरिजा का मंदिर तालाब के निकट एक बगीचे में था, ऐसा मानस में उल्लिखित है। एक दूसरे गीत में शीतला के मंदिर को उरेहने अर्थात् दिवालों पर चित्राङ्कन करने की चर्चा है।

नीचे हम कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें मंदिल महल का पर्यायवाची है:—

(क) चारि मंदिल चारि दीप बरैं, हमरा अकेले बरे हो।

(ख) राम के जनमले बहुत सुख होला, दिन दिन मंदिल मोर अँजोर।

(ग) के मोरा छइहें मंदिलवा, उठइहें घर सिंहासन[5] हो राम।

महल के अर्थ में मंदिर को तुलसी, भूषण आदि हिन्दी के अनेक कवियों ने अपनी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है।

---

१—सजाया हुआ, २—छजनी (सं० छादन), ३—किवाड़ (सं० कपाट), ४—चौखट, ५—महलों का बाहरी फाटक, जिसपर सिंह की मूर्ति बनी रहती है, सिंहद्वार। यह एक परंपरा अत्यन्त प्राचीन है।

## बंगला

बङ्ला या बंगला उस एक मंजिले मकान को कहते हैं जो चार त्रिभुजाकार चारों (छप्परों) को जोड़कर बनाया जाता है। यह आकार में करीब करीब वर्गाकार होता है। संभव है कि बंगाल से ही इस बनावट के घर देश के अन्य भागों में फैले हों और इसी से इसका नाम 'बंगला' पड़ा हो। बंगाल की छजनी प्रसिद्ध है, (छाजा बाजा केस, तीन बंगला देश।—कहावत)। ऐसे घर को कोई कोई मुड़ेड़ भी कहते हैं:—

प्रेमी प्रेमिकाओं के शयनागार के सम्बन्ध में स्त्रियों में एक गीत प्रचलित है, जिससे सेज रचना के अतिरिक्त बंगले की बनावट पर भी प्रकाश पड़ता है। गीत इस प्रकार है:—

नदिआ का तीरे मोहन बछरू[१] चरवले,
कटावे लगल हे मोहन लामी लामी बँसवा।
चिरावे लगल हे मोहन लामी लामी फठवा[२]।
सेल्हावे[३] लगल हे मोहन लामी लामी फठवा।
बन्हावे लगल हे मोहन बेंतही[४] बन्हनवा[५]।
छवावे लगल हे मोहन पान के छजनिआ।
उठावे लगल हे मोहन कोठवा से सोफवा[६]।
कटावे लगल हे मोहन रचि[७] रे खिरिकिआ[८]।
लेसावे[९] लगल हे मोहन चौमुख दिअरा[१०]।
डँसावे[११] लगल हे मोहन लाली रे पलङ्गिआ।
छितरावे लगल हे मोहन ओढ़उल के फूलवा।
खोले लगल हे मोहन दखिन के चिरवा।
पहिरावे लगल हे मोहन धनी के चुनरिया।
पूछे लगल हे मोहन दिलवा के बतिआ।
से कहु कहु हे धनी दिलवा के बतिआ।

—चम्पारन जिला।

इस ठेठ देहाती गीत में अनेक पारिभाषिक शब्द आए हैं। 'पान की छजनी' में पान शब्द पत्ते का वाचक है। पर्ण से पएण बनकर देशी भाषाओं में पान बन जाता है। गीत में

---

१—बछड़ा, २—बांस को चार भागों में चीर देने के बाद का एक भाग, ३—छिलना, ४—बेंत का, ५—बंधन, ६—गद्दी, ७—कलात्मक ढंग से काम करना, ८—खिड़की, ९—जलना, १०—वह दीप जिसमें चारों तरफ चार बत्तियां जलती हों ११—बिछाना।

सोफा शब्द आया है, जो अंग्रेज़ी भाषा का है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह आधुनिक काल का गीत है। युग के तकाजे के अनुसार पुराने गीत भी नया चोला पहन लेते हैं।

एक दूसरे गीत में भी बंगला निर्माण की चर्चा है। यह 'झिंझिया' का गीत है, जिसे लड़कियाँ आश्विन के नवरात्र में गाती हैं:—

भइआ बखानिले[1] कवन भइआ ना,
भइआ सींकिए कतर[2] बङ्गला छावेले ना।
भउजो बखानिले कवन भउजो ना,
भउजो हाथे सिन्होरवा[3] गहवर[4] टीक[5] अइली ना।
बहिनी बखानिले कवन बहिनी ना,
बहिनी गहवर का ऊपर झिंझिआ[6] खेल अइली ना।

—चम्पारन जिला।

इस गीत में सींक को कतर कर बंगला छाने की चर्चा है, एक अन्य गीत में सींक को चीर कर। सींक का डंठल बहुत चिकना और देखने में सुन्दर होता है। आज भी सींक से बंगला छाया जाता है, पर उसे कतरकर या चीरकर नहीं। ग्रामीण समाज अपनी कलाप्रियता खोता जा रहा है। यह दुःख की बात है।

नेटुआ के नाच के एक बिरहे में 'मुड़ेड़' घर का वर्णन निम्न प्रकार से है:—

नीची नीची घरवा के ऊँची दरवजवा, लागे मुड़ेड़[7] घर बाँस।
ऊपर ढुरत[8] बा पंडुक परेवा,[9] नीचा ढुरत जोड़ी हाँस[10]॥

—चम्पारन जिला

सम्पन्न घरों में पंडुक, कबूतर एवं बतख शौक से पाले जाते हैं, जिसका उल्लेख इस गीत में है।

## कोठा

लोक गीतों में कोठे की बहुशः चर्चा है, जिनमें से कुछ उक्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

(क) नदिआ किनारे बालम, कोठवा उठावे लाल।
कोठवा का सोंचे बालम, घरहुँ ना आवे लाल॥

(ख) कोठा से ऊँच कोठरिआ हो बाबा।
कि आहो बाबा, झिलमिल[11] लागेला केंवार, सजन लोग घेरि अइले॥

---

१—प्रशंसा करती हूँ, २—बारीकी से काटना, ३—सिन्दूर पात्र, ४—देव-घर, ५—सिन्दूर का टीका करना, ६—वह घड़ा जिसमें कलात्मक ढंग से सम्पूर्ण घड़े में छिद्र बनाया रहता है, और लड़कियाँ उसे गाँव में घुमाकर गीत गाती हैं, ७—मुड़ेड़ (मुद्गराकृत बांस के बँबड़े से भी मतलब हो सकता है—सं०) ८—नाचता है, ९—कबूतर, १०—बतख़ (सं० हंस), ११—जालीदार।

(ग) कोठा में ऊँच कोठरिश्रा हो बाबा झँझरिन[1] लागेला केंवार।
तेही पइठि सोवेले बेटी के बाबा, झुक झुर बहेला बेश्रारि॥

(घ) से सुनि बाबा मोर कोठवा उठावेले,
खिरकिनि[2] लावेला केंवार।

(ङ) कोठा ऊपर कोठड़िश्रा ए बाबा, इंगुरे[3] ढरावल[4] चारु पांव[5]।
श्रोही पर ढुड़ेला लाल परेङ्ना,[6] लेत सिरी नाम के नाँव[7]।

(च) सासु! कोठवा में कटहुँ झरोखवा, जेंवत[8] हरि देखबि।

(छ) पीश्रर माटी के कोठवा उठवल, जिरवनि[9] रँचेली दुश्रार।

उपर्युक्त उद्धरणों पर गौर करने से हमें लोकगीतों की अपेक्षित गृहनिर्माण कला का किञ्चित् आभास मिलता है। कोठे के ऊपर बनी हुई कोठरियों में 'झिलमिल' या 'झांझर' किवाड़ एवं खिड़कियाँ होनी चाहिए ताकि उनमें हवा अबाध गति से प्रवेश कर सके। ये कोठरियाँ शयनागार के काम में लाई जाती थीं, ऐसा गीतों से ज्ञात होता है। कोठे के निर्माण की सामग्रियों के संबंध में गीत मौन हैं। केवल एक गीत में पीली मिट्टी के बने कोठे का जिक्र है जिसका द्वार फूल के जीरे (केसर) से सँवारा गया था। लोकगीतों में घरों के किवाड़ के लिये 'बजर केंवाड़' रूढ़ है। संभवतः ये किवाड़ वज्र से मजबूत होते थे, अथवा वज्र का अर्थ हीरा भी है। कोठे पर झरोखे बनते थे। गीतों में 'झरोखा' छोटी कोठरी एवं खिड़की दोनों के लिये प्रयुक्त है।

यहां यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि लोकगीतों में झरोखे को लेकर सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। राम के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई सीता झरोखे से ही आते हुए दल को देखती है (झारी झरोखन सीता निरेखली)। वियोगिनी एवं उपेक्षित प्रेयसी को अपने प्रियतम के दर्शन का सुअवसर झरोखा ही प्रदान करता है। एक गीत में झरोखे पर बैठकर दँतवन करनेवाले उस राजा की चर्चा है जो गली-गली घूमती हुई नटी वेशधारिणी निष्कासिता 'जीमिदारिन' को देख कर उस पर मोहित हो जाता है। एक दूसरे गीत की विरहिणी नायिका झरोखे पर बैठ कर गाती हुई 'प्रेमचिरइश्रा' को इसलिए मना करती है कि उसे विरह बाण लग रहे हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ यह मार्मिक गीत नीचे दिया जा रहा है:—

**आरे आरे प्रेम चिरइश्रा, झड़ोखवन जनि बोल हो।**
**चिरई, श्राजु मोरा हरि परदेसवा, बिरह मोहि लागेला॥**

---

१—झांझीदार, २—खिड़की, ३—सिन्दूर, ४—रंगा हुआ, ५—पाया, ६—चिड़िया (फा० परिन्दा), ७—नाम, ८—भोजन करते हुए, ९—फूल का केसर।

आजु नाहीं बोलबो निखुंज बन,[1] अवरो केदलिआ[2] बने हो।
रानी, आजु हम बोलबो झरोखवा, बिरह तुहे मारबि ॥
बारि लेबो मानिक दिअरा, बिछाइ लेबो पालङ[3] हो।
चिरई, अस कइ बबुआ खेलइबो, जनब[4] हरि घरे बाड़े ॥
घेरि अइहें कारी बदरिआ, बड़हिं बून्दा परि जइहें हो।
रनिआ, आइ जइहें हरि जी के सुधि, मनहिं पछताई जइबू ॥
घेरि अइले कारी बदरिआ, बड़हिं बून्द परि गइले हो।
चिरई, आई गइले हरि जी के सुध, मनहिं पछताइले ॥

—देवरिया जिला

## अटारी

अटारी ( सं० अट्टाली ) ऊँचे महलों एवं दो तल्ले मकानों के लिये लोकगीतों में आया है। यह कहीं कहीं कोठे का भी पर्यायवाची माना गया है। गीतों से ज्ञात होता है कि अटारी शयनकक्ष के रूप में व्यवहृत होती थी और इसमें दीपक या माणिक्यों के दीप जला करते थे। यथा:—

(क) केकर ऊंची अटरिआ, त मानिक दीप जड़े हो।

(ख) सासु मोरा सूतलीं अटरिआ, ननद गज ऊपर हो।
ललना, सामी मोरा सूतले महलिआ, त कइसे के जगाएब हो ॥

(ग) एक हाथे लेलीं सुनर दीप-दिअरा, एक हाथे लोटा डोरी हो।
मोरि सुनरि, चलि भइलीं कोठारे अटरिआ, सोअलीं सुख नींनरि[5] हो।

## धवरहर

धवरहर ( धवलगृह) लोकगीतों में कोठा या अट्टालिका के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोहरों में संतानहीन राजा दशरथ के शोकमग्न होकर 'धवरहर' या 'धवराग' में सोने की चर्चा है। एक दूसरे गीत में बाँसुरी के स्वर पर मोहित होकर चुरिला नामक डोम के साथ भाग जाने-वाली रानी चरवाहों एवं 'कुँइआ पनिहारिन' से चुरिला का 'धरोहर' पूछती है। एक लग्न गीत में 'गिरि धवरहर' या 'गृही धवरहर' पर सोए हुए माली को मालिन जगा रही है।

## ओरसी

कोठे के लिये एक सोहर में ओरसी शब्द मिला है ( ओरसि चढ़ि बइठहुँ )। यह

१—निकुंजवन, २—केदलीवन, केले का वन, ३—पलंग, ४—जानूँगी ५—नींद।

शब्द केवल एक ही गीत में मिला है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि कोठे के लिये ओरसी किसी कारणवश लोकप्रिय नहीं हो सका।

## चउपार

'चउपार' ( चतुःशाल )[१] घरों के उस समूह को कहते हैं जो आङ्गन के चतुर्दिक् आयताकार बना हो। लोकगीतों में केवल एक स्थल पर यह इस अर्थ में आया है और कोठे या छतदार मकान के अर्थ में अनेक गीतों में। यथाः—

**(क) केकर चउपरिया चढ़ि बइठेला रे सुगवा,**
**सुगवा के बोलिया अनमोल हे।**

**(ख) आवहुँ ए विप्र आवहुँ, चउपरिआ चढ़ि बइठहुँ।**

**(ग) ऊँची चउपरिआ चढ़ि सूतल कवन बाबू,**
**बाबू का अइली सुख नींद हे।**

**(घ) पितिआ[२] पढ़ले चउपार।**

चम्पारन जिले से प्राप्त एक सोहर में 'करन चउपार' की चर्चा है ( केकर करन चउपरिआ त माणिक दीप जरे )। 'करन चौपार' नाम की बराबर पहाड़ पर एक गुफा है, जिसे अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं के लिये बनवाया था। यह कहना कठिन है कि गुफे का यह नामकरण लोकगीतों की प्रेरणा से है या पहाड़ पर स्थित गुफा का पर्यायवाची होने से यह लोकगीतों में अट्टालिका का बोधक माना गया है।

## गृह संबंधी अन्य शब्द

लोकगीतों में 'बँसहर' ( वंशगृह ), 'भीतिहर' ( भीत्तिगृह ), 'टटिहर' ( टट्टी का घर ) तथा 'मड़ई' ( फूस का घर ) की भी चर्चा है। 'ओबरी' या 'गाज ऊपर' ( गच ओबरी) एवं 'मुनहर घर' उस घर को कहते हैं जो परिवार के किसी स्त्री के रहने के लिये नियत रहता है और उसमें वह स्त्री अपने पति से एकान्त में मिल सकती है। इसी प्रकार 'रंग महल' वह घर है, जहाँ पति-पत्नी एक साथ सोते हैं। यह 'ओबरी' भी हो सकता है और दूसरा कोई घर भी।

लोकगीतों में गृह-निर्माण के और भी अनेक शब्द हैं जिनका थोड़ा या बहुत महत्व है। उनकी चर्चा फिर कभी की जायगी।

---

१—चौपाक शब्द की व्युत्पत्ति चतुः पालि से है, पाल का अर्थ है—
१—पानी को रोकनेवाला बाँध या किनारा, मेंड़,
२—भीटा या कगार। चौपाल में ऊँची दीवारों से बँधा हुआ चबूतरा आवश्यक है इसी से यह शब्द बना है।—सम्पादक

२—पिता का भाई

## गृह से संबद्ध बाग और पुष्प वाटिकाएँ

लोकगीतों में गृहों के द्वार पर एवं पिछवाड़े में लगाए गए अशोक, चंदन, मुकुलित आम, नारंगी, नीबू, जमीरी, कसैली, शिरीष, महुली ( महुआ ), लवंगी,[1] चम्पा एवं तेंतरी[2] ( त्रितरु सं० ) की चर्चा बड़े कलात्मक ढंग से की गई है। उनसे संबंधित कुछ पद बानगी के तौर पर नीचे दिए जाते हैं—

( क ) चकवा भइआ का दुअरा असोकवा के गछिआ,
झिलमिल बहेला बेअरिए हो।

( ख ) अङना चनन गाछ रुखवा,[3] त रुखवा सोहावन हो।
मोरे साहेब, ताही पर बोले बनकाग, त बोलिआ सोहावन हो॥

( ग ) चंदन बोए के त बोअलों, अपना महल बीचे हो।
ललना रे, छछन बिछन भइले डार,[4] त देखत सोहावन हो।

( घ ) अमवा मोजरि[5] गइले, डढ़िआ ओनरि[6] गइले हो।
ललना अङना डँसईबो सुख सेज, आवेले सुख नीनरि हो॥

( ङ ) मोरा पछुअरवा निमुआ के गछिआ, हे नेवारी बारी[7]।
अब फरे[8] फूले भइले कचनार, हे नेवारी बारी॥

( च ) मोरा पछुअरवा लवङिआ गाछी, अवरो महुलिआ गाछी हो।
आरे ललना, गमकि आवेला सारी रात, नीनरिओ[9] नाहीं
आवेला हो॥

चंदन ने लोकमानस पर इस प्रकार अधिकार जमाया है कि हम गीतों में उसके वृक्ष को महलों में भी आरूढ़ पाते हैं।

सोहरों में संतानहीना कौशल्या राजा दशरथ से द्वार पर या 'खिरकी' में बाग लगाने का अनुरोध करती है ताकि वह मंजरी देख सके। इसी प्रकार एक दूसरे गीत में सीता राम से द्वार पर 'लखराँव' ( लक्षाराम, लखपेड़ा ) लगाने का आग्रह करती है। विवाह के एक गीत में वर कहता है:—

गोयड़नि देखब बाग रे बगइचा, दुअरा देखब फुलवारी हे।
कोहबर देखब सुभवा कवन सुभवा, नएना जइहें जुराइ हे॥

---

१—एक प्रकार का फूल जो लवंग के आकार का होता है। २—बट, पीपल और पाकड़ का सम्मिलित वृक्ष, ३ पेड़, ४—डालियां चारो तरफ फैल गईं, ५—मुकुलित, ६—झुक गई, ७—यह गीत का टेक है, ८—फल से, ९—नींद।

एक दूसरे गीत में हम

> 'अङनहिं फूलेला बेइलिआ, त दुअरा चमेलिआ नु हो।
> आरे मोरे प्यारे हो, बगिआ में निमुआ झूबदले, त देखत सोहावन हो॥'

जैसी उक्ति पाते हैं।

यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि एक गीत में सन्तानप्राप्ति के लिये एक स्त्री छः महीने तक तुलसी के चबूतरे पर दीपक जलाती है। चबूतरा अवश्य ही आँगन में रहा होगा।

लोकगीतों में घर के पिछवाड़े की 'घनी बँसवारी' में कुहुकते हुए मोरों की चर्चा है:—

> मोरा पछुअरवा घनी बँसवरिआ, कुहुके बन के मोरवा।
> जिनि मोरा मोरवा के रोड़ा से मरिहें, बिछुड़ि जइहें जोड़वा॥

स्थानाभाव से हम लोकगीतों में वर्णित भीत्तिचित्रों एवं उनकी आलेखन-प्रक्रिया, मंडप-रचना तथा चौक पूरने की कला आदि पर प्रकाश नहीं डाल सके। यदि इस लेख से विद्वानों को लोककला के मूल्याङ्कन में कुछ भी सहायता मिली तो किसी दूसरे लेख में इन पर लिखने की चेष्टा की जायगी। *

---

* इस लेख को लिखने में डा॰ अग्रवाल के लेख "साहित्य के साथ कला का संबंध" से प्रेरणा मिली है, अतः लेखक उनके प्रति आभार प्रगट करता है।

# हिन्दी नाटकों का मूल स्रोत

**दशरथ ओझा**

किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल लेती है। इन साधनों में नाटक का स्थान उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिस प्रकार पठित समाज में 'काव्येषु नाटकम्' का। पठित समाज के सदृश अपठित तथा अर्धपठित समाज में भी प्रतिभाशाली व्यक्ति होते रहते हैं, जो अपने समुदाय के अनुरूप जनकाव्य और जननाटक का सृजन करते रहते हैं। उनकी रचना द्वारा लक्ष-लक्ष जनता दृश्य तथा श्रव्य काव्य का रसास्वादन करती है। यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जननाटक की रचना होने का मुख्य कारण बताते हुए डा० कीथ ने कहा है—"संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जन-भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिये प्रायः असम्भव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा के समझने में समर्थ था और उसी उच्चपदस्थ पठित समाज के लिये साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत नाटक केवल एक वर्गविशेष की कलाभिरुचि और हास्य-विनोद का विषय रहा है। सामान्य जन-समुदाय से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था।" यह निष्कर्ष चाहे सर्वथा विवादरहित न हो, किन्तु इसे कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा कि केवल साहित्यिक नाटक जनता के दैनिक जीवन में मनोविनोद के सर्वोच्च साधन किसी युग में भी न बन पाए होंगे। अतएव सामान्यतः अपठित तथा अर्धपठित जनसमुदाय में उनके जीवन के अनुरूप हास्य-विनोदमय नाटक का सृजन होता चला आया है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्यिक और जननाटक एक दूसरे पर प्रभाव डालते रहे होंगे। उदाहरण के लिये जननाटक का हँसोड़ पात्र संस्कृत नाटक में विदूषक के रूप में आ गया। इसी प्रकार रंगमंच आदि साहित्यिक कलाओं का प्रवेश जन-नाटक में होने लगा है। अतः यह निस्सन्देह रूप से मानना चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक प्रणयन से पूर्व कोई न कोई नाटक परम्परा प्रत्येक भाषाभाषी प्रान्त में अवश्य विद्यमान रही है, जो सम्भवतः साहित्यिक नाटक की उत्पत्ति का मूल कारण न होते हुए भी ज्येष्ठ भगिनी के नाते तो उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी।

हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन-नाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा, कविकीर्तनियाँ नाटक; बिहारी में विदेशिया; अवधी, पूर्वी हिन्दी, व्रज तथा खड़ी बोली में रास, नौटंकी, स्वांग, भांड; राजस्थानी में रास, झूमर, ढोला मारु; गुजराती में भवाई, महाराष्ट्री में ललिते और तमाशा, आन्ध्रकी भाषा में भागवत भले आदि नाटक विद्यमान थे। जननाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्य भाग प्रायः उपेक्षित था। रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं था और वेशभूषा

तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे। आज की तरह ही सङ्गीतमय वातावरण की प्रधानता का लक्ष्य होने के कारण नाटक के अन्य तत्त्व अनपेक्ष माने जाते थे।

कहा जाता है कि हिन्दी के साहित्यिक नाटक पर लीला नाटक और स्वांग का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। ये दोनों शैलियाँ साहित्यिक नाटक पर प्रभाव डालती और स्वयं प्रभावित होती चली आ रही हैं। इनका भी अब प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। अतएव हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण रास और स्वांग आदि की परम्परा के अनुसंधान बिना अपूर्ण ही माना जायगा।

जननाटक की प्रस्तुत शैलियों में स्वांग नाटक एक विशेष स्थान रखते हैं। स्वांग नाटक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ साथ ही जनता के सामने आ गए होंगे। हिन्दी भाषा में स्वांग से प्राचीनतर नाटक का उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सिद्ध कण्हपा विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने डोमिनी के आह्वानगीत में स्वांग का उल्लेख इस प्रकार किया है[1]:—

नगर बाहिरे डोंबी तोहारि कुडिया छइ।
छोइ जाइ सो ब्राह्म नाडिया।
आलो डोंबि! तोए सम करिब म सांग निधिण कण्हपा; पाली जोइ लग।
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी। ताहि चढ़ि नाचअ डोंबी वापुड़ी॥

उपर्युक्त उद्धरण वज्रयानियों की योगतन्त्र साधना से सम्बन्ध रखता है। इस साधना में डोमिनी आदि का अबाध सेवन एक आवश्यक अंग माना जाता है। डोमिनी के साथ सांग करने का आह्वान उस काल की सांग शैली को प्रमाणित करता है। डोमिनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह डोमिनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है। इस नाटक में डोमनियां ही पुरुष का वेश बनाकर पुरुषों का अभिनय करती हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि डोम जाति का व्यवसाय ही स्वांग करना रहा है। इसी तरह भाँड़ आदि जाति का व्यवसाय कश्मीर आदि प्रदेशों में नाटक करना रहा है, जिस प्रकार उत्तर भारत में रूप भरना नट का व्यवसाय है।[2] जननाटक का यह भांड़ ही संस्कृत में 'भाण' रूप से आता है।

जायसी ने भी स्वांग का उल्लेख किया है। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ भेजने के लिये जोगिन का सफल स्वांग करनेवाली एक वेश्या को राजमहल में आमन्त्रित किया और उसे दूती बनाकर चित्तौड़ भेजा। बादशाह दूती खंड में इसका उल्लेख इस प्रकार है[3]:—

पातुरि एक हुति जोगि सवांगी। साह अखोर हुत ओहि मांगी॥

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास........पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ८

२—प्रेम प्रकाश--बरकतुल्लाह......'प्रेमी' 'रूपकथ भरत है।'

३—जायसी ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा काशी—बादशाह दूतीखंड, दोहा १'

**जोगिनि भेस बियोगिनि कन्हा। सिंगी सबद मूल तत लीन्हा ॥**
**पदमिनी पहं पठई करि जोगिनि। बेग आनु करि बिरह बियोगिनि ॥**

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि जायसी के समय स्वांग करनेवाले केवल पुरुष ही नहीं, प्रत्युत स्त्रियाँ भी हुआ करती थीं। सम्भवतः वेश्याएँ इस कला में निपुण मानी जाती थीं।

जायसी के पूर्व कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशा का इतना अधिक प्रचार हो रहा था कि साधु-महात्माओं के आदेश अवज्ञा के कानों से सुने जाते थे। कबीर दास जी निद्राप्रेमी श्रोताओं को सम्बोधित करके कहते हैं—

**कथा होय तहं स्रोता सोवे, बक्ता मूंड पचाया रे।**
**होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।**[४]

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स्वांग और तमाशा उस काल में भी अत्यन्त आकर्षक रूप में होते थे। स्वांग जनता के मनोविनोद का प्रधान साधन बना था।

१७ वीं शताब्दी में विरचित बरकतुउल्लाह साहब के[५] 'प्रेम-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में रूप भरने का प्रयोग पाया जाता है। इस सम्बन्ध में बहुरूपिया शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। भारतीय जन-जीवन में रूप भरने की कला का प्रचार इसके द्वारा भी सिद्ध होता है। रूप भरने की कला वैदिक काल में भी प्रचलित थी।[६]

यह स्वांग परम्परा शताब्दियों से मौखिक चली आ रही थी। लेखबद्ध स्वांग का प्रमाण १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है। पं० रामगरीब चौबे स्वांग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि अम्बाराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण सहारनपुर में निवास करते थे। सर्वप्रथम आधुनिक शैली में उन्होंने स्वांग के गानों की रचना की और सन् १८१९ के आस पास इनका अभिनय हुआ।[७]

उपलब्ध स्वांग साहित्य हाथरस और रोहतक की दो शैलियों में लिखे जाने के कारण दो रूपों में मिलता है। देहात में यह वार्ता अति प्रचलित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में दीपचन्द नामक स्वांगी इस कला में प्रसिद्ध था। उसमें काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ अभिनयकला सम्बन्धी गुण भी थे। उसने अश्लील और शृंगारी स्वांगों का बहिष्कार करके वीर रसपूर्ण स्वांगों की रचना की और जनता में वीरता के प्रति उत्साह पैदा किया। उसकी शिष्य-परम्परा रोहतक में अभीतक चली जा रही है। उसके नाटक पौराणिक, राजनीतिक तथा सामाजिक होते हैं। हास्य रस का स्वाद स्थान स्थान पर मिलता है।

---

४—कबीर वचनावली—अयोध्या सिंह उपाध्याय, काशी नागरीप्रचारिणी सभा
५—प्रेम प्रकाश
६ –"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" ऋग्वेद
७—इंडियन एंटिक्विरी—जनवरी १९१०

आजकल जन-समाज में स्वांग के कई रूप प्रचलित हैं[८]। आधुनिक स्वांग नाटकों में गद्य का प्रवेश स्पष्ट रूप से साहित्यिक नाटकों का प्रभाव है।

स्वांग के अतिरिक्त ग्रामीण जनता होली के समय भाँड़ नामक नाटक द्वारा मनोविनोद करती है। प्रसाद जी का कथन है कि भांड़ संस्कृत 'भाण' का ही रूपान्तर है। इसमें भी कभी कभी एक ही पात्र 'किं ब्रवीसि' की तरह 'क्या कहा' कहता हुआ अभिनय करता है। इसका विषय प्रायः प्रेम होता है और हास्यरस की प्रधानता होती है। यह भी सम्भावना हो सकती है कि यह शैली जन नाटकों से संस्कृत में आई हो। कारण यह है कि अपढ़ ग्रामीण जनता संस्कृतज्ञों की शैली से प्रायः अपरिचित रहकर अपने स्वभावानुसार मनोविवोद के साधन निकालती है।

ग्रामीण स्त्रियां भी धान रोपते समय नृत्य-गान-संयुक्त अभिनय करती हैं। विवाह के समय बारात चले जाने पर वर के घर की स्त्रियां अभिनय करती हैं। पर्वतीय प्रान्तों में वसन्त पंचमी के अवसर पर लड़कियां 'झूमेलो' नामक गीत गाती हुई अभिनय करती हैं। उनके अभिनय को देखने के लिये पर्वतीय जनता सैकड़ों की संख्या में एकत्र होती है और मनोविनोद की इस नाट्य-शैली से रसास्वादन करती है[९]। जन नाटकों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन साहब ने खोज की और उन्होंने कुमाऊं से एक पुराना व्यंग्य नाटक ( सटायर ) जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित किया। व्यंग्य नाटक का नाम है 'कृष्णपांडे का कलियुग' (रचनाकाल १८१५ ई०)। इस व्यंग्य नाटक से तत्कालीन मैजिस्ट्रेट मि० ट्रैल बहुत प्रभावित थे और प्रायः इसे देखते थे।

उपर्युक्त गवेषणा से यह मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध होता है कि हिन्दी नाटक प्राचीन कालीन तथा मौलिक नहीं हैं, प्रत्युत संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित अथवा प्रभावित हैं।

हिन्दी नाटक की परम्परा का मूल स्रोत यह प्राचीन जन-नाटक ही हैं जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अबतक विद्यमान हैं। क्रमशः जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया। इस प्रवाह में काल तथा देश के संयोग से संस्कृत भाषाओं के स्रोत भी आ मिले हैं। इस सम्मिलन से यह प्रवाह अधिकाधिक रम्य तथा गतिशील होता रहा है। निष्कर्ष यह कि हिन्दी नाटक मौलिक हैं, जन-नाटक से निसृत; वह अन्य भाषाओं से अपहृत नहीं हैं। ( क्रमशः )

---

८—स्वांग नाटकों के निम्नलिखित भेद आजकल प्रचलित हैं—नौटंकी, निहाल दे, हीर रांझा, नवल दे।

९—जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी, जुलाई १९०१

# राजा रिसालू की बात के राजस्थानी संस्करण

**अगरचंद नाहटा**

मेरा साहित्य-शोध का प्रधान विषय 'प्राचीन साहित्य' रहा है। पर कुछ वर्ष हुए जैन साहित्य का अध्ययन करते समय उसमें संगृहीत विशाल लोक-साहित्य की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ। फलतः कुछ वर्ष पूर्व "लोकवार्त्ताओं संबंधी जैन साहित्य" शीर्षक लेख 'नागरी-प्रचारिणी' में प्रकाशित किया गया था और उसके पश्चात् डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की सूचना से प्रेरणा पाकर राजस्थान की एक लोकवार्ता "सद्‌वत्ससावलिगा" पर यथासंभव अन्वेषण कर "राजस्थान भारती" में उसके विविध रूपान्तरों पर प्रकाश डाला गया। तदनंतर गौरीशंकर द्विवेदी से विदित हुआ कि इस कथा का बुंदेलखंडी रूपान्तर भी प्राप्त है। अभी कुछ मास पूर्व स्व० मेघाणी के लोकसाहित्य संबंधी ग्रन्थ अवलोकन में आए तो गुजरात में इस संबंध में जो उल्लेखनीय कार्य हुआ है, उसका परिचय हिंदी जगत को कराने के लिये 'गुजरात में लोक-साहित्य संबंधी कार्य' शीर्षक लेख तैयार किया, जो पटना से प्रकाशित "अवन्तिका" में प्रकाशित हुआ। करीब दो महीने हुए "राजा रिसालू की बात" के संबंध में पंजाबी डिपार्टमेन्ट पटियाला के डाइरेक्टर डा० गंडा सिंह का पत्र मिला कि इस कथा के राजस्थानी रूपान्तरों को संगृहीत कर मैं भिजवाऊं। राजा रिसालू की बात वर्षों से मुझे विदित ही थी, पर उसके अध्ययन एवं शोध का अवसर अभी तक प्राप्त नहीं हुआ था। इस पत्र के पाने पर मैंने इस वार्ता के राजस्थानी रूपान्तरों की छान-बीन की और उसके परिणाम को प्रस्तुत लेख द्वारा पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ।

डा० सत्येन्द्र जी के 'व्रजलोक साहित्य का अध्ययन' और श्रीयुत मंजुलाल मजूमदार के लोकवार्ताओं संबन्धी दो लेख पहले देखने में आए थे और तभी से लोकवार्ताओं के संबन्ध में विशेष शोध एवं अध्ययन करके विशिष्ट जानकारी प्रकाशित करने का विचार हुआ था। अवकाश मिला तो समय समय पर एक-एक लोकवार्त्ताओं के संबन्ध में राजस्थानी, गुजराती, हिंदी आदि भाषाओं में कितना विशाल साहित्य मिलता है, प्रान्तीय रूपान्तरों में कितना परिवर्तन हुआ है, प्रान्तीय रूपान्तरों में कितना साम्य और वैषम्य है, इन सब बातों पर यथामति प्रकाश डाला जायगा। मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ।

राजा रिसालू की बात मूलतः पंजाब से संबन्धित है। इसके कई रूपान्तर वहां प्रचलित हैं। पर यह वार्त्ता अन्य प्रान्तों में भी काफी प्रसिद्ध रही प्रतीत होती है। छत्तीसगढ़ी रूपान्तर

तो प्रकाश में आ ही चुका है। प्रस्तुत लेख में राजस्थानी रूपान्तरों की चर्चा की जा रही है। अभी आलोचना के तीसरे अंक में लोकसाहित्य के विशिष्ट संग्राहक देवेन्द्र सत्यार्थीजी का 'लोक साहित्य की यथार्थवादी परंपरा' शीर्षक निबन्ध पढ़ने में आया, उसमें इस वार्ता संबन्धी अच्छी जानकारी दी गई है। अतः सत्यार्थी जी के निबन्ध से आवश्यक उद्धरण दे देना उचित समझता हूँ। जिससे इस कथा के व्यापक प्रचार और प्रकाशित ग्रंथों का कुछ परिचय पाठकों को हो जायगा। लेख के विस्तार भय से मैं पंजाब और छत्तीसगढ़ी रूपान्तरों से राजस्थानी वार्ता के साम्य और वैषम्य पर विवेचन करने का लाभ संवरण कर रहा हूँ। इस सम्बन्ध में रुचि रखनेवाले व्यक्ति सत्यार्थी जी के सूचित ग्रंथों का अध्ययन कर लाभ उठा सकते हैं। पंजाब से नागरी एवं उर्दू लिपि में इसके कुछ और भी संस्करण निकले होंगे मैंने उनको प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। सत्यार्थी जी को भी पत्र दिया, पर उनका उत्तर नहीं मिला। अतः अपनी जानकारी को ही विद्वानों के सम्मुख उपस्थित करके संतोष कर रहा हूँ।

राजस्थान में जहां तक मैंने शोध किया है इस वार्ता का प्रचार १७ वीं शताब्दी से हुआ मालूम देता है। मूलतः यह वार्ता दोहों के रूप में लिखी मिलती है। पंजाब, राजस्थान—विशेषकर बीकानेर राज्य का उत्तरी हिस्सा परस्पर सम्बन्धित है। दोनों की सीमाएं जुड़ी हुई हैं। अतः ये दोहे पंजाब से राजस्थान में प्रचलित हुए, संभव है क्योंकि इनकी भाषा में पंजाबी प्रभाव स्पष्ट है। पीछे से पद्यों के साथ गद्य को जोड़कर नरबद चारण ने जो संस्करण तैयार किया उसके पद्य भी पंजाबी भाषा से प्रभावित हैं। उसमें दूहा पंजाबी ढाला पंजाबी ऐसा निर्देश भी किया है। इससे यह तो निश्चित है कि मूल रूप में यह वार्ता १७ वीं शताब्दी से पूर्व पंजाब में प्रसिद्ध रही है। मुझे पता नहीं कि वर्त्तमान में प्राप्त पंजाबी संस्करण कितने प्राचीन हैं, व उनमें ये दोहे किस रूप में मिलते हैं। पर मेरा ख्याल है कि राजस्थान में उसकी लिखित प्रतियाँ मिली हैं उससे पूर्व की पंजाब में भी शायद ही कोई प्रति प्राप्त हो। यदि ऐसा है तो राजस्थानी संस्करण का महत्त्व बहुत ही बढ़ जायगा। १७ वीं शताब्दी में इस वार्ता का प्रसार बहुत बढ़ा प्रतीत होता है। २० वीं के प्रारंभ में तो यह ख्यालों के रूप में अभिनय किया जाने लगा। प्रस्तुत लेख में राजस्थान में प्रचलित व ज्ञात सभी रूपान्तरों का संक्षिप्त परिचय देते हुए नरबद चारण के संस्करण की कथा का सार ही दिया जायगा। ख्यालों में उनके लेखकों ने रुचि के अनुकूल परिवर्त्तन भी किया है उसका उल्लेख विस्तार भय से मैं यहां नहीं करूँगा, क्योंकि वे प्रकाशित हो चुके हैं, अतः अधिक रुचि रखनेवाले सज्जन उन्हें प्राप्त कर विशेष जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। यदि उनके प्राप्त करने में असुविधा हो तो मुझे सूचित करने पर मैं खरीद कर भिजवा दूंगा।

अब देवेन्द्र सत्यार्थीजी के "आलोचना" में दिए हुए वक्तव्य को नीचे दिया जाता है:—

"पंजाब में रिसालू कुँवर की वीर-गाथा शौर्यपूर्ण कार्यों की प्रतीक है। सर्वप्रथम सन् १८५४ में जनरल एल्बोट ने इसे लिपिबद्ध किया था; इसका अनुवाद, जो तुकान्त पद्यबद्ध शैली में प्रस्तुत किया गया था, 'जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' में प्रकाशित हुआ था। फिर तीस वर्ष पश्चात् रेवेरेंड चार्ल्स स्विनर्टन ने स्वतंत्र रूप से इस गाथा को लिपिबद्ध

किया और सन् १८८३ में 'फोकलोर जर्नल' में इसे प्रकाशित किया। सन् १८८४ में स्विनर्टन ने जिला रावलपिंडी के शरफ और जुम्मा नामक गायकों से रिसालू के सम्बन्ध में ग्यारह पृथक् गाथाएँ उपलब्ध कीं और इन्हें 'एडवेंचर्स आफ ए पंजाब हीरो, राजा रसालू' के रूप में प्रकाशित किया। सन् १८९२ में स्विनर्टन की पुस्तक 'इंडियन नाइट्स एंटरटेनमेंट' प्रकाशित हुई। कुछ वर्ष पश्चात् सन् १९०२ में स्विनर्टन ने 'रोमांटिक टेल्स फ्रॉम दि पंजाब' में रिसालू की गाथा का एक और रूप प्रकाशित किया, जिसे उसने जिला हजारा के शेर नामक गायक से सुनकर लिपिबद्ध किया था। सन् १९०८ में 'रोमांटिक टेल्स' और 'इंडियन नाइट्स एंटरटेनमेन्ट' का मिला-जुला संस्करण प्रकाशित हुआ। रिसालू की गाथा की चर्चा करते हुए स्विनर्टन ने लिखा है: 'जहाँ-तहाँ इन पुरातन शब्द चित्रों में हमें उस स्वर्ण युग की अस्पष्ट किन्तु कोमल झाँकियाँ देखने को मिलती हैं, जिसका स्वप्न पुरातन काल के गायकों ने देखा था। तुम्हारी सुन्दरता में उस शांतिपूर्ण चित्र से अधिक अनोखी और सीधीसादी क्या वस्तु होगी जो राजा रिसालू और राजा भोज की गाथा में प्रस्तुत किया गया है? यों लगता है जैसे एक योद्धा ने युद्ध और संघर्ष के संसार से निकलकर एक नूतन और उल्लासपूर्ण जीवन के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया हो, जैसे वह समय की गति में पीछे की ओर मुड़ गया हो और उस आनन्दपूर्ण युग के हर्ष का आस्वादन कर रहा हो, जब लामुख के शूरवीर ने अपने सीधे सादे श्रोताओं के कानों पर जादू-सा कर दिया था, क्योंकि उसे भी कहीं अन्त में जाकर इतनी समझ आ पाई थी कि स्वर्ण युग का आधार एक काल्पनिक अतीत में नहीं, बल्कि एक निश्चित भविष्य के प्रकाशमय उद्घाटन में है, समूची जाति के सफल विकास में है......'

रिसालू की गाथा का एक रूप रेवरेंड रिचर्ड टेम्पल ने सन् १८८४ में प्रकाशित 'लेजेंड्स आफ दि पंजाब' में प्रस्तुत किया था; इस भाषा का यह रूप जे० जी० डेलमेरिक ने 'टेम्पल' के लिए लिपिबद्ध किया था। टेम्पल ने लिखा है—'इतिहास और लोकवार्त्ता की दृष्टि से इस गाथा का असाधारण महत्व है।' स्विनर्टन और टेम्पल द्वारा प्रस्तुत किए गए इस गाथा के विभिन्न रूपों से यह ध्वनि निकलती है कि रिसालू सियालकोट के राजा सालवाहन का पुत्र था; कहीं कहीं इस बात पर भी जोर दिया गया है कि सालवाहन राजा विक्रमादित्य का वंशज था।

रिसालू की गाथा का एक रूप वैरियर एलविन ने विलासपुर के एक अहीर से सुनकर लिपिबद्ध किया है; और इसका अनुवाद 'फोकसांग्स आफ छत्तीसगढ़' में प्रस्तुत किया है। टेम्पल द्वारा प्रस्तुत किए गए रूप के समान ही इस गाथा के कुछ अंश गद्य में हैं, कुछ पद्य में। जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है, इसकी कुछ बातें स्विनर्टन और टेम्पल द्वारा दिए गए रूप से भिन्न हैं। इस गाथा का एक रूप श्यामाचरण दुबे ने जिला रामपुर के दक्षिणी भाग के निवासी एक 'धुरगोंड' गायक से सुनकर लिपिबद्ध किया है।

रिसालू की गाथा के अंतिम भाग में हम देखते हैं कि शरीरहीन नर-मुण्ड रसालू की यात्रा अन्तिम युद्ध से थोड़ा पहले रसालू से मिलता है। फिर हम देखते हैं कि ऐसे सैकड़ों नर-मुण्ड जोर से एकाएक हँस कर रिसालू को भयभीत करने की चेष्टा करते हैं। पर बहुत

शीघ्र हम देखते हैं कि जनता की आशाओं का ज्वलन्त प्रतीक नरमुण्डों से भयभीत होने की बजाय उल्टा अपने कार्य में सहायता पाने में समर्थ होता है।

रसालू की गाथा का चमत्कारपूर्ण अंश ही इस की विशेषता हो, यह बात नहीं। इसका यथार्थवादी चित्रण ही इसकी वास्तविक शक्ति है, पूरी गाथा दैनिक जीवन का स्पर्श लिए हुए है; उस युग का ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चित्र एक साथ प्रस्तुत करने में पंजाब के लोकगायक पूरी तरह सफल हुए हैं। मध्य भारत के सुदूर गोंड प्रदेश तक इस गाथा के प्रसार से भी इस गाथा की सामाजिक चेतना का प्रमाण मिलता है।"

इस उद्धरण से, पाश्चात्य विद्वानों ने इस वार्त्ता पर कितना अधिक काम किया है। अब राजस्थानी संस्करणों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सबसे प्राचीन संस्करण 'राजा रिसालू रा दूहा' है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति मेरे अवलोकन में सं० १६८० के आसपास लिखित बृहत् ज्ञान भंडारवाला गुटका आया है। इसमें दोहों की संख्या ३१ है। ये सभी दोहे नीचे दे रहा हूँ; जिससे पंजाब में ये अब प्रचलित हैं या नहीं और हैं तो किस रूप में हैं—तुलना करने में सुविधा होगी।

## राग गोड़ी दूहा

राजा रीसालू रीसालूया, रीसालूयारी सभीया मरजांहवे।
सखरज पक्के आंबले, राजीया केही ढील न खाहिवे ॥ १ ॥
हूँ राजा रीसालू रीसालूया, रीसालूया रीस पुहती आइवे।
सखरज पके आंबले, गोरडी जब सिरज्या तब खाइवे ॥ २ ॥
उंचइ मुहल चबंदर्डा, चबंदडी तु किस केरी नारि बे।
दूरा हुँ आया आस करि, दुक विरह हमारो मार बे ॥ ३ ॥
मारीजइगो बापड़ा, बापड़ा जेबारी लंघो पाउबे।
राख्या वेल्या जो चरइ, सिर बाहर धड़ आउबे ॥ ४ ॥
कडि कटेही धड़ कटे, धड़ कटे कड कटेही सिरजाहवे।
सखरज पके आंबले, गोदड़ो मो खावण को चाह बे ॥ ५ ॥
पांच पंखेरू छबगा, छबगा सेजे आया भारबे।
इण हमारइ धवलहर, गोरडी किण नाख्या खहिगार बे ॥ ६ ॥
पांच पंखेरू छबगा, छबगा नवतीतर दस मोर बे।
राजा रीसालू रइ धवलहर, धवलहर चोरी पइठा चोर बे ॥ ७ ॥
आश पूगी आहेडीया, आहेडीया मृग न लागो घाउ बे।
धणी न फीटो गोखडी, गोखडी चोरन डलो जाउबे ॥ ८ ॥

किण खहिगारा खहिगिया, किण नाख्या खहिगार बे।
इण हमारइ धवलहर, धवलहर कुण फिरया असवार बे ॥ ९ ॥
भइ खहिगारा खहिगीया, खहिगीया,भइ नाख्या खहिगार बे।
इण तुम्हारइ धवलहर, राजीया भइ फेरथा असवार बे ॥१०॥
मइ खाया आंबा आंबली, आंबली मइ खाई लाल जंभीर बे।
राख्या बेल्या जे चरइ, राजीया हूँ भी बावन वीररे ॥११॥
हथ प्रीय मुख प्रीय नयन प्रीय, प्री दीवलय जलाइबे।
जीवतड़ी ई तइ माणीयो,गोरडी तइ मुया नइन लधो स्वाउबे ॥१२॥
तइ अण्यो मइ भखीयो, जे मृगा हुंदय स्वाउबे।
जे जाणूं निगुणें सुगणो मारीयो,राजीया तो मरूं कटारी खाइबे ॥१३॥
साजण चाल्या गुण रह्या, गुण भी चालणहार बे।
गुणे ज छाया धवलहर, राजीया सो भी चालणहारबे ॥१४॥
सरवर कपड़ धोवंदो, धोवंदो अंगी सूसण पाग बे।
नहसेती घड लोमइ भरथो, राजीया अजी न बोल्यो बगाब ॥१५॥
देस विडाणे भुइ बुरी, भुइ बुरी तुं राजा की धीय बे।
थांका कारण मारिजां, गोरडी कुण छोडावइ जीय बे ॥१६॥
चंदन कटुं चिहकरु, चिहकरुं लायुं आग बे।
म्हाकइ कारण मारिजइ, राजीया हु भी बलुंगलि लाग बै ॥१७॥
कइ तु मुयो कइ मारीयो, मारीयो कइ तुं गयो अहिवाद बे।
एकण मुंध पटोलड़ा, राजीवा अभी भीजुं बार बे ॥१८॥
न हु मुउ न मारीयो, न मारीयो नहूँ गयो अहिवार बे।
तुं हंसा हंदी गोरडी, गोरडी तुं आई बगा बार बे ॥१९॥
के परनारी राची यह, के राती वयणेह बे।
थारा चूकोधर ए गयो, गोरडी तइ जोयो नेणेह बे ॥२०॥
पगे लाखीणी मोजड़ी, मोजड़ी कटारी बहु चित्रबे।
राजा रीसालु पूछीयो, राजीया उही हमारो मीत्रबे ॥२१॥
हंस चलदइ इम कहो, इम कहो सरवर मित्र जुहार (बे)।
हम तुम्ह विणठी गोठडी, गोरडी संदेसा विहवार बे॥२२॥

सरवर हंस मनायले, मनायले नइ...थको बहोड़वे।
जिण पासइ तुंदीसइ ऊजली, गोरडी तिणसुं ताण मत्रोड़वे ॥२३॥
सरवर हंसा केतला, केतला पुहप केता भमराहवे।
सगुण साजण केतला, राजीया देस वदेस गयाहवे ॥२४॥
हंस किथाउं आवीया, आवीया हंसा किथाउं जाहवे।
सरको पंखी डोहीयो, गोरडी हंस चलंदइ लाहवे ॥२५॥
कइ तुंमई कइ मातीयां, कइ जोवन असगाहवे।
कहो हमारो जे सुणइ गोरडी वाट दिखाडे ताहवे ॥२६॥
नहुं मइ न मत्तीया, नमतीया न जोबन असगाहवे।
आ दोसां सिर तुं दोस दइ, राजीया आरे उचाही बाहवे ॥२७॥
बाहुस बुकड जल सिवर, जल सिवर कलीयल केस रुलंदवे।
गोरी आखे डंडला, राजा पंखी केथ जुलंदवे ॥२८॥
तुइ दोइ दीसइ अबला, अबला ऊपर भमर भणंदवे।
गोरी आखइ डंडला, राजी. . .पंखी उथ जु दवे ॥२९॥
सजण मिल्या धृत थई, काजा सहि सरीयाह वे।
पूनम चंद मयंक जिम, राजीया दिसच्यारे फलीया ॥३०॥
साखी संसारी भला, संसारी भला पूरब गरब विहारवे।
सील सामलदे पालीयो, पालीयो राजीया राजाभोज जुहारवे ॥३१॥

इति श्री रीसालू दूहा समापत

उपर्युक्त पाठ वृहत् ज्ञानभंडार की प्रतिका है। हमारे संग्रह की प्रति में इतने ही दोहे कुछ आगे और पाठान्तरों के साथ मिलते हैं। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी की प्रति में जो ६ दोहे अधिक हैं, वे उनके संख्या—अंकों के साथ नीचे दिए जा रहे हैं:—

इक सूया इक सारको, नव तीतर दस मोरवे।
एता रखवाला मइदीया, गोरडी कित धरि पइठा चोरवे ॥८॥
पंखीवाक्य—जें भ्रिहणी भ्रह मुसइ, गृह मुस अवरा देहवे।
जड वाडी जव चरइ, तउ राजीया रख्या काह करेहवे ॥९॥
हडीयावाक्य—किण खाया आंबा आंवलो, किण खाइ लाल जंभीरवे।
राखी बेली जिण चरी, सोभी बावन बीर बे ॥१३॥
जाकी पाग बत्रीस वड, कटारी बहु चित्र।
जे तुं राजा छयल है, तो बूझि हमारा मित्र ॥१८॥

ऊठि कुबुधी बुधि दे, किस बुधि जाह धरांह बे।
ग्रह ऊठी प्रगड़ो मच्यो, लोकां लाज मरांह ॥२०॥
परिहरि हमारा कपड़ा, कांछइ कुरि तरवार।
लांबा लांबी वोख भरि, कुण कहि सातो नारि ॥२१॥
पावडियां चटकाईये, कड़ी रुलंदा केस।
हम साहिब चा गोरड़ी, तोनूं किण पहिराया वेस ॥२२॥
रहि रहि पीर बगासिया, सारीखां न मलेह।
रातिज करहा उछरै, तांह पागेड़ू मेह ॥२३॥
रात न करहा उछरै, दिह न तारा होकू।
मारूं मूंध कटारियां, कर क्युं वीरा होई ॥२४॥

ऊपर जो दोहे दिए गए हैं, उनका प्रचार राजस्थान में बहुत अधिक रहा है। परवर्ती गद्य-पद्यात्मक जो संस्करण तैयार हुए हैं उनमें से कुछ दोहे यथास्थान प्रयुक्त किए हुए मिलते हैं। बृहत् ज्ञानभण्डार और हमारे संग्रह के दोनों गुटकों में उनकी संख्या ३१ है। जब कि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी की सं० १७१८ लिखित राजस्थानी-विभाग के गुटका नं० ७८ के पत्रांक ३५-३६½ में इनकी संख्या ४१ दी है, पर बीच के ७ वें अंक का दोहा नहीं मिलता; यातो वह लिखने में छूट गया है, अथवा पद्यांक लगाने में भूल हो गई है। अतः इसके दोहों की संख्या ४० ही रहती है।

प्रारंभ—

## राग गोड़ी दूहा

राजा रीसालू रीसालूया रीसडीया मरजांह बे।
सखरज पक्के आंबले राजीया के ही ढीलन खाह बे ॥१॥

अंत—

साखी संसारी भला संसारी भला पूरब गरब विहार बे।
सील सामल दे पालीयो पालीयो राजीयो राजाभोज जुहार बे ॥३१।

**दूसरा संस्करण** नरबद चारण का संकलित है। इसमें दोहों की संख्या ६७ है। आगे शेष वार्त्ता गद्य में लिखी हुई है। दोहे प्रासांगिक रूप में बीच-बीच में आते हैं। उपर्युक्त दोहों से ये दोहे प्रायः भिन्न हैं, पर शैली एक ही है। इस संस्करण की १८ वीं शती की प्रति सिरोही में मेरे अवलोकन में आई थी। यह संस्करण काफी प्रसिद्ध रहा है। १६ वीं शताब्दी की कई प्रतियां प्राप्त हैं जिनमें से उदयपुर के सरस्वती भण्डार में सं० १८२२ की लिखित है। पत्र सं० १४ प्रति पृष्ठ पंक्तियां १३ और प्रति पंक्ति अक्षर २५ से २७ हैं। इसका विवरण 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' प्रथम भाग के पृ. ११७

में प्रकाशित है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के गुटके नं० १६१, १६२ में भी यह वार्ता मिलती है, जिसमें १६१ वाले गुटके में पद्यों की संख्या ६६ है और १६२ में ६६। रचयिता का नाम एक में 'चारण निरमला' और दूसरी में 'नरबदो' है। मोतीचन्द जी खजानची के संग्रह में इस संस्करण की एक प्रति १० पत्रों की है। ये तीनों प्रतियां १६ वीं शताब्दी की लिखित हैं। इनमें से नं० १६१ में लेखन संवत् १८७२ दिया हुआ है। गुटके नं० १६२ में और खजानची जी के संग्रह की प्रति में लेखन सम्वत नहीं दिया हुआ है। गुजरात में भी इस संस्करण का प्रचार रहा प्रतीत होता है। 'गुजराती हाथ प्रतोनी सङ्कलित यादी' के पृ. ७७ में एक प्रति का उल्लेख इस प्रकार है—"नदौहस्तो चारण—? रसाल कुमारनी वार्ता (गद्य-पद्य अप्रसिद्ध) नं० ४६६२ (उ० सां० १८४६)" यहाँ रचयिता का नाम 'नदौ-हस्ती चारण' अन्तिम पद्य पाठ के ठीक से नहीं पढ़ने के कारण भ्रमवश लिखा गया है। जैसा कि नीचे पाठ दिया जायगा—उससे स्पष्ट है कि 'नरबदा चारण' ने इस कथा को गाया और उसे हाथी प्राप्त हुआ। ग्रंथ का नाम भी 'रसाल कुमार' लिखा है। वहाँ 'रसालू या रिसालू' होना चाहिए। इस संस्करण के आदि अन्त का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है—

प्रारंभ—

"वार्ता" श्रीपुर नगर को राजा सालिवाहन राज करै छै तेहनें पाटै राजा समस्त राज करै छै। तिण राजा रैसात अस्तरी छै। पण पुत्र नहीं। बेटा वास्ते देवी देवता खटदरसण, छत्तीस पाखंड, चोमालीस चेटक अनेक दाय उपाय करी पूछी या। घणी मानता पूजा की धी। पण पुत्र नहीं। तदि राजा कहै। पुत्र बिना माहरो राज किसा कामरो। मतः—

**'सिंगालो अर खेलणो, जिण कुल एकण जाउ।**
**तास पुराणी वाड़ ज्युं, दिन दिन माथै पाउ॥**

अन्त—

रसालू राजी हुआ। अस्त्री नै ग्रहणो घड़ायो। सासु सुसरो राजी हुआ। बधाई बांटी। घणा दिन सासरै रह्या। एक दिन रसालू सुसरा तीरै सीख मांगी। राजा भोज मोहरत पूछै बेटी चलाई। भली तरह पुंहचाई। चाल्या थका धारावती नगरी आया। नगर बसायो। बरस रह्या। रांणी दै एक बेटो हुओ। रतनसीह नाम दीधो। उठासूं चाल्या। श्रीपुर नगर में राजा समसते जाणयो। कोई बेरी धरती लेवा आया। धवल—मनोरथ मोती थाल भरै वधाया। नरनारी मलि मंगल गाया। धवल मनोरथ मंडप छाया। सरबलोके मन भाया। दाणी ५ भली परणै आया। ढोल दमामा भला बजाया। घणा उछावसूं पधारीया। राय रांणी बहु सुख पाया—

दूहो—**राजा रसालू हंदी वातड़ी, कूड़ी कथीअन सोज बे।**
**गावै चारण नरबदो, हसती पायो भोज बे॥६७॥**

**इति श्री रिसालू वार्ता संपूर्ण।**

**तीसरा संस्करण** जैन यति आनन्द विजय ने बनाया है। यह उपर्युक्त नरबद चारण रचित वार्त्ता का विस्तृत रूप ही है। नरबद चारण के उल्लेख वाला पद्य देकर अन्त में पीछे "आनन्द

विजय ने इसका विस्तार किया है"—स्पष्ट लिखा है। इस संस्करण की दो प्रतियाँ अभी तक मेरे अवलोकन में आईं हैं। जिनमें से अनूप संस्कृत लायब्रेरी के गुटके नं० १६० के पत्र पृ० ७५ में यह वार्त्ता लिखी मिली है। वह गुटका सं० १८६० विजयदशमी को अमर विजय ने लिखा है। प्रति पृष्ठ पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति अक्षर १८ हैं। पत्र पानी से भींगे हुए हैं। दूसरी प्रति खजानची कलाभवन की पत्राकार ३६ पत्रों की है। इसमें लेखन संवत् नहीं है। पर कागज और लिपि के हिसाब से इसका लेखन उसके करीब या पीछे का होना संभव है। इसमें प्रति पृ० पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति अक्षर लगभग ३५ हैं। नरबद के संस्करण से इसका परिमाण चौगुने से भी कुछ अधिक बैठता है। आदि अंत इस प्रकार है—

प्रारंभ --

गणपत देव मनायकै समरी सारद माय।
बात रिसालू राय की, करूं रसिक सुखदाय ॥ १ ॥
लेख विधाता जिम लिख्यो, तिमहीं भुगते सोय।
सुगण नरां मनजाँण जो, बात तणो दस जोय ॥ २ ॥
बेधालू मन बांध वें, मूरख हासौ होय ।
जाणै सोई सुजाणनर, अवर (न) जाणै सो (को) ये ॥३॥
कथा रसिक कवि राय की, जीभा कहत बणाय।
रीसालू नृप विध कहूं, वाचौ चित्त लगाय ॥ ४ ॥
राग-रंग रस की कथा, प्रेम पिया सविलास।
वात भेद सारो कहूँ, सगुणां पूरण आस ॥ ५ ॥

अथ वार्ता—श्रीपुर नामानगर। तिण रै विषै राजा सालिवाहन राज करै छै। इमघणा दिन बीता तरै सालिवाहन दिवंगत हुवौ। तटै प्रधान उमारावां भेला हुयनै बड़ो पुत्र (स) मसत कुंवर नामे तिणनै पार बेसाणियो।

अंत —

चारण नरबद उल्लेख वाले पद्य के बादः—

बात रीसालू री कही, हुती आगै जेह बे।
माहै कवित भेला छै, दूहा बात सनेह बे ॥ ४ ॥
छोटी नै मोटी करी, कविता मनकर हुंस बे।
आणंद मंगल रायजो, चतुर भवर सुगणा खुस बे ॥ ६ ॥

वार्ता—इतरी बात रीसालू री कही। सारी ही विध पुन री छै। कविता मन खुसी होयनै। बात मोटी विसतारी छै। बात दो वणाय खूब कियो छै। **आणंद विजै जती बात**

दो विसतार बधारी छै। चतुर पुरुषों नै रीझ उपजै। मीठी लागण रै वास्तै की वी छै। मूरख पुरुषों नैदांत कथा जुं छै। ग्यांनी पुरुषों ने शीलगुण ग्यांन छै।

दूहा—मनरंजण अति सुखकरण, रागरंग दसरीत।
बात रीसालू राय की, बांचै ते पालै पीत ॥ १ ॥

इति श्री रीसालू राय की बारता संपूर्णम्। लिखतूं विकानेर मध्ये। लेखक पाठकयो।

**चौथा संस्करण** राजस्थान पुरातत्त्व के संग्रहालय से हाल ही में जयपुर जाने पर प्राप्त हुआ। यह संस्करण कच्छ में लिखा मिला है. इसलिए इसके गद्य गुजराती भाषा में हैं। इसमें पद्यों की संख्या उपयुक्त तीनों संस्करणों से ज्यादा है। "गद्य" वार्ता का संबंध जोड़ने के लिये लिखा गया, प्रतीत होता है। पद्यों की भाषा गद्यों से भिन्न है, कुछ दोहे प्राचीन ३४ व ४१ दोहे में से भी हैं, अतः इसके पद्य परंपरागत प्राचीन होने चाहिए। कई पद्य सुभाषित के रूप में हैं। वे बड़े सुन्दर व भावपूर्ण हैं। और वार्ता की कथावस्तु भी अधिक सुव्यवस्थित और मूल के अधिक निकट प्रतीत होती है। अतः मुझे यह संस्करण विशेष रूप से पसंद आया और उपयुक्त प्रतीत हुआ। इसकी अभीतक एक ही प्रति मिली है, पर वह प्रायः शुद्ध है। आद्यन्त भाग इस प्रकार हैं:—

आदिः—

अथ राजा रिसालू कुमार की वार्त्ता लिख्यते चौपै ॥
प्रथमै प्रणमुं श्री गणेश, विद्यातणो आपै उपदेश।
सालिवाहन पुत्र रिसालू होय, संततपतै ग्रहिया सोय ॥ १ ॥

दूहाः—बेटा जाया सालिवाहन, धरिया रिसालू नाम।
बांमण भटने पूछीया, नवखंड राखै नाम ॥ २ ॥

अंत—

हवै महादेव नै पार्वती करै छै—

दूहा—रीसालू रुदन करै, आंसूहां रो धार।
बेगो जाइ महेस तूं, मरसै रायकुमार ॥ १७ ॥

वार्ताः—तिहां महादेव आव्या,—

दूहा—अपी छिड़क्कां नांख कर, कंब झड़क्का लाय।
सामलदे सर्जाव कर, रीसालू धरि जाय ॥ १८ ॥

वार्ताः—हवै तिहां थी चालीनै आपणै नगरे आव्यो। बापनै बधाइ देई। सालिवाहन बेटानै दुखे रोइ आंधो थयो हतो तेहरखीनै उठ्यो। बार साखें माथूं फूटूं। लोही निकल्युं। सालिवाहन देखतो थयो।

दूहाः—माथो लागो बार साखसूं, चख विहुं हुआ सुचंग।
रीसालू सालिवाहन मिल्यो, दीयो ग्धाउ दड़ंग ॥ ६१ ॥

इति श्री रीसालु कुंवर नी वारता संपूर्णम् । संवत् १८६० ना कातिक वदी ८ बुधे संपूर्णम् ॥ लिखतं मुनि गुलाल कुशल ॥ श्रीमान कूए ॥

पत्र ७, प्रति पृष्ठ पंक्ति १३ प्रति पंक्ति अक्षर ४६ ।

गद्य-पद्य के प्राप्त तीन संस्करणों में यह छोटा होने पर भी सबसे महत्त्वपूर्ण है ।

१६ वीं शताब्दी के अंत से भारत में प्रायः सर्वत्र "ख्यालों" का प्रचार लोक नाट्य के रूप में हुआ । राजा रिसालू के भी कई ख्याल बनाए और खेले गए । इनकी भाषा हिंदी प्रधान है । राजस्थान में "राजा रिसालू नोपदे का ख्याल" प्रसिद्ध रहा है । इसके दो संस्करण हमारे संग्रह में हैं । इसके रचयिता झालीराम, फतहपुर के निवासी थे । पहला संस्करण पंडित श्रीधर शिवलाल, ज्ञानसागर छापाखाना, बम्बई का है, जिसमें कई चित्र भी हैं । दूसरा संस्करण ईश्वर लाल बुकसेलर त्रिपोलिया बजार जयपुर का है । इसमें चित्र नहीं है । तीसरा हाथरस का है वह भी सादा है । और भी इसके कई संस्करण व अन्य रचित यही ख्याल प्रसिद्ध है । राजस्थान में आज भी होली आदि के प्रसंगों में राजा रिसालू का ख्याल खेला जाता है । इससे इस वार्त्ता के प्रचार का भलीभांति पता चल जाता है ।

रिसालू की वार्त्ताओं के तीन अन्य पद्यात्मक संस्करणों में तो साधारण अन्तर है पर "ख्याल" में उनसे बहुत भिन्नता है । इसमें नोपदे को प्रधानता दी गई है, जब कि वार्त्ताओं में इसका नाम भी नहीं मिलता । लोकवार्त्ताओं में ऐसे परिवर्त्तन एवं भिन्नत्व सहज है । मैं अन्य लेखों द्वारा कई ऐसी अन्य वार्ताओं पर भी प्रकाश डालूंगा, जिनमें कथाओं के मूल पात्र तो एक हैं, पर उसकी कथावस्तु सर्वथा परिवर्त्तित हो गई है । अब मैं राजस्थानी रूपान्तर जो सबसे प्रसिद्ध रहा है, उस ( नरबद चारण रचित ) वार्त्ता का सार संक्षिप्त में दे रहा हूं, जिससे पंजाबी व छत्तीसगढ़ी आदि संस्करणों से कथावस्तु की तुलना में सुविधा होगी ।

## राजा रिसालू की वार्त्ता का सार

**श्रीपुरनगर** के राजा **सालिवाहन** के पुत्र **समस्तराजा**[1] थे । उनके सात स्त्रियां थीं, पर पुत्र न था । शिकार के प्रसंग मे वे एक बार जंगल में गए तो सूअर दूर चला गया, सूर्य अस्त हो गया अतः उन्हें वहीं रहना पड़ा । रात में निकटवर्त्ती पर्वत पर उन्हें अग्नि जलती दिखाई दी, जिसका पता लगाने के लिये ग्वाल भेजा गया । उससे वहाँ गोरखनाथ जी की धूनी जल रही है जानकर राजा वहां गया । गोरखनाथ जी उस समय ध्यानमग्न थे, अतः राजा एक पांव पर बहुत देर तक सेवा में खड़ा रहा । गोरखनाथ जी ने जब पलक खोली तो राजा को खड़ा देख, प्रसन्न होकर वरदान मांगने को कहा । राजा ने पुत्र की इच्छा प्रगट की । नाथ जी ने उसकी पूर्त्ति के लिये गुलाब की छड़ी देते हुए अपने निकटवर्ती बाग के एक आम को उस छड़ी के द्वारा तोड़कर रानी को खिला देने से इच्छा पूर्ण होने को कहा । तदनुसार करने पर

---

१—गुजरात के संस्करण में रिसालू को सालिवाहन का ही पुत्र लिखा है, वह ठीक प्रतीत होता है । श्रीपुर के स्थान पर स्यालकोट समझना चाहिए ।

राजा के पुत्र हुआ और गोरखनाथ जी की दी हुई रसाल की स्मृति में उसका नाम 'रसालू' वा 'रिसालू' रखा गया। ज्योतिषी ने कुमार के क्रूर नक्षत्र में जन्म होने के कारण माता-पिता को १२ वर्ष तक उसका मुँह नहीं देखने का निर्देश किया। ११ वर्ष तक कुमार को महलों में गुप्त रखा गया। इस समय कुमार का सम्बन्ध करने के लिये ( उज्जैन के ) राजाभोज की कन्या का नारियल आया। कुमार का खड्ग के साथ विवाह कर सामलदे को ससुराल में लाया गया और थोड़े दिन बाद वह पीहर चली गई। फिर धारा के कछवाहा राजा भान की बेटी का भी नारियल आया और उसके साथ भी उसी प्रकार विवाह हुआ। कुँवर अपने को गुप्त रखने का कारण खवास से जानकर बाहर आया और पुरोहित को धमकाते हुए उसके मस्तक पर सोने की गुर्ज दे मारी। यह जानकर उसका पिता राजा नाराज हुआ और कुँवर को देश निकाला दे दिया। कुमार घोड़े सवार हो चलते चलते पर्वत पर अग्नि जलती देख गोरखनाथ जी के पास पहुँचा और समुद्र पार राजाजीत की लड़की से विवाह करने की इच्छा प्रगट करते हुए नाथजी का आशीर्वाद प्राप्त किया। नाथजी ने उसे चमत्कारिक चौपड़ के पासे दिए, जिन्हें लेकर वह राजाजीत के नगर पहुँचा[१]। वह राज खेला में अनेक व्यक्तियों को जीतकर उनका मस्तक छेदन कर लेता था। रिसालू ने गोरखनाथ जी के दिए हुए पासों के प्रभाव से खेल में विजय कर दाव में उसके माथे को जीत लिया। पर उस राजा की रानी ने राजा को बचाने के लिये अपनी कन्या से विवाह करने का राजा रिसालू से अनुरोध किया। रिसालू ने उसकी बड़ी कन्या से विवाह न कर छ महीने की छोटी कन्या से विवाह कर उसे अपने साथ ले लिया। उसको दूध पिलाने के लिये एक रोमड़िया हरिनी भी साथ में ले ली और वन से हरिन एक सूआ और मैना को भी। चलते-चलते वह द्वारिका[२] नगरी पहुँचा, जो एक राक्षस के उपद्रव के कारण सूनी पड़ी थी। रिसालू ने किसी तरह राक्षस को मार डाला और वहीं महल में रहने लगा। इधर छ मास की आयुवाली पत्नी पशुओं के साथ खेलती खेलती वयस्क हो गई। एक दिन हरिन चरने के लिये ( रजपूत वणजारे ) हठमल की बाड़ी में चला गया[३]। बागवान से हरिन के द्वारा फलफूलों का विनाश ज्ञात कर हठमल ने उसका पीछा किया और रिसालू के महल तक आ पहुँचा। महल में फूलमती बैठी थी उससे उसने पीने के लिये पानी मांगने के मिस से प्रेम की याचना की। परस्पर में प्रेम संबंध स्थापित हो गया और वह उसके साथ भोगविलास करके वापिस लौटा। इसी समय शिकार से रिसालू आ गया और सूए के द्वारा उसे यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ। लक्षण और परीक्षा से निर्णय कर उसने हठमल का पीछा किया और उसे मार गिराया। उसके कलेजे के मांस का साग बनाने को फूलमती को दिया और जब वह उसे खाने लगी तो उसे रिसालू ने हठमल की स्मृति दिलाई। इससे वह बड़ी दुखित हुई और रिसालू उस

१—गुजरात के संस्करण में वैराट का राजा लिखा है।

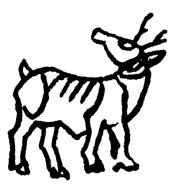
२—गुजरात के संस्करण में "सींधड़ी" स्थान का नाम दिया है।

३—गुजरात के संस्करण में सोरठ का नवकला ग्राम में हठी लेजाने का उल्लेख है।

छोड़कर चला गया। बारह वर्षतक जिसे उसने पाला पोसा उसके द्वारा विश्वासघात किए जाने से रिसालू को बड़ा खेद हुआ। चलते हुए रास्ते में उसे एक योगी मिला, जिसकी करतूत उसने छिपकर देखी। योगी ने अपनी जाँघ में से एक योगिनी निकाली और उसके साथ में खा-पीकर वह सो गया। उसके नींद आने पर योगिनी ने अपनी जाँघ में से एक युवा योगी को निकाला और उससे विलास करती हुई जब योगी के जागने का समय आया तो उसे पुनः जाँघ में छिपा लिया। योगी ने जगकर पुनः योगिनी को भी अपनी जाँघ में छिपा लिया। इस करतूत से स्त्रियों के सतीत्व के सम्बन्ध में अविश्वासी होकर रिसालू ने योगी को भोजन का निमन्त्रण दिया और वहाँ उसके लिये तीन थाल अधिक परोसे गए। योगी के इसका कारण पूछने पर रिसालू ने अनुरोध करके उससे योगिनी निकलवाई और उसी प्रकार हठ करके योगिनी के के द्वारा युवा योगी को जाँघ से निकलवाया। अब योगिनी के लिये दोनों योगी लड़ने लगे। तब रिसालू ने योगिनी से यह पूछकर कि उसे इनमें से विशेष प्रिय कौन है, युवक के साथ उसे कर दिया और बड़े योगी को फूलमती दे दी। पर फूलमती का मन हठमल से ही लगा हुआ था, इसलिए योगी से काष्ठ मंगवाकर हठमल के शव के साथ में वह सती हो गयी।

रिसालू ने अब अपनी दूसरी पत्नी की परीक्षा का विचार कर राजा मान के यहाँ पहुँचा और अपनी पत्नी को सुनार के साथ में सम्बन्धित देखकर उसे सुनार को सौंप दी। फिर वह राजा भोज की कन्या अपनी प्रथम पत्नी **सापलादे** के परीक्षार्थ पहुँचा। सापलादे अपने सतीत्व की परीक्षा में खरी निकली। अतः उसे स्वीकार कर रिसालू अपने नगर में पहुँचा। ( रिसालू का पिता उसके विरह के कारण अन्धा हो गया था। अतः पुत्र के आने पर उसे बड़ा हर्ष हुआ। ) यथासमय रिसालू के पुत्र हुआ जिसका नाम **रतनसिंह** रखा गया।

रिसालू के पुत्र "पूर्ण भक्त" के होने की बात पंजाब में प्रसिद्ध है। पर उसकी कथा पंजाबी रूपान्तर से कितनी साम्य और वैषम्य है, यह स्वतन्त्र लेख का विषय है। अतः यहाँ उसका निर्देश मात्र करते हुए इस लेख को यहीं समाप्त करता हूँ।



# गढ़वाली लोकगीत

## ललिताप्रसाद नैथानी

प्रत्येक समृद्ध साहित्य में लोकगीतों का विशेष स्थान और आदर होना स्वाभाविक है। क्योंकि प्रथम साहित्य की उपज और फिर उसका विकास लोकगीतों से ही हुआ है। यह दूसरी बात है कि फिर वह धीरे-धीरे अपनी प्रगति के साथ सुसंस्कृत विस्तृत स्वरूप धारण कर झोपड़ियों को, जहाँ उसका जन्म हुआ है, छोड़ महलों की ओर बढ़ चला। फलस्वरूप आज का साहित्य दो भागों में विभाजित हो गया है:—( १ ) वह साहित्य जो नागरिक लोगों के प्रोत्साहन से महलों, शहरों और कथित सभ्य समाज में पनपता है, और ( २ ) वह साहित्य जो आज की जगमगाती दुनिया से दूर झोपड़ियों, नदी, नालों, पहाड़ों और जंगलों में उत्पन्न होकर वहीं अपना स्थान सुरक्षित रख पाने में अपना सौभाग्य समझता है। लोकगीत दूसरी श्रेणी में है।

गढ़वाली लोकगीतों के मुख्य कवि गढ़वाल के रहनेवाले बादी हुड़कनदास और मिरासी हैं। इनमें 'बादी' ही गढ़वाल के आदि और प्रमुख कवि हैं, जो परम्परा से अपनी वाणी द्वारा गढ़वाल के डाँडा-काँठाओं में बसनेवाले तब और अब के भी मनुष्यों को प्रफुल्लित करते रहते हैं। इन बादियों की एक विशेष जाति है, जिसका एकमात्र उद्यम गीतों की रचना और फिर उनको पहाड़ी जनता तक पहुँचाना है। ये गीतों के रचयिता ही नहीं बल्कि गायक भी हैं। ये बादी समय-समय पर और विशेष कर चैत्र में अपने परिवार को साथ लेकर गांवों में जा-जाकर अपने गीतों को सुनाते हैं। सचमुच बादी पहाड़ों में एक प्रकार के लोकगीतों के सच्चे मिशनरी हैं। इन बादियों के प्रचार का भी अपना निराला ढंग है। बादी स्वयं ढोलक बजाता है और उनके साथवाली बादियाँ नाचती और गाती हैं। हाँ, ताल और स्वर में बादी भी मदद देता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गढ़वाल के लोकगीतों में कवि की कविता नर्तक का नृत्य और गायक के गाने का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है।

गढ़वाली लोकगीतों के रचयिता मिरासी दूसरी श्रेणी में आते हैं, लेकिन इनको विशेष महत्व नहीं दिया जाता। इन लोगों का विशेष प्रभाव इसलिये भी नहीं होता कि ये देश के सम्पर्क में आ जाने से लोकगीतों को भूलते जा रहे हैं और अपनी कला को ग़ज़ल वग़ैरह तक ही सीमित करते जा रहे हैं। इन लोगों का रहन-सहन भी सरल है जिसका प्रभाव इनकी कला पर पड़ना स्वाभाविक है।

गढ़वाल में दासों का एक प्रमुख समुदाय है। इस समुदाय के लोग अक्सर शादियों में ढोल और दमामा बजाया करते हैं। यह एक विशेषता है कि हिन्दुओं के पुराने बाजे ढोल और दमामा अब केवल कुमाऊँ में पाए जाते हैं। इन दासों की भी पुरोहितों की तरह अपनी वृत्ति और उनके यजमान होते हैं। पर ये कहते अपने को दास हैं। ब्याह-शादियों में होली-दिवाली और विशेष खेल-तमाशों के वक्त गढ़वाल में पांडव नृत्य का प्रदर्शन अक्सर होता है।

इन पांडव नृत्यों में उपरोक्त दास पवाड़े, ढोल और दमामा के साथ गाया करते हैं। ये पवाड़े स्वदेश-प्रेम और वीर-गाथाओं से भरे रहते हैं।

हुड़क्या लोगों का भी गढ़वाली गीतों के ऊपर विशेष अधिकार है। ये लोग अपनी हुड़की ( एक प्रकार की छोटी ढोलक ) की ताल में गाया करते हैं, और इसलिये ये हुड़क्या कहलाते हैं। पवाड़ों के ये भी विशेष प्रचारक होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गढ़वाली लोकगीतों का अपना समृद्ध भंडार है, जो समय के हथौड़ों को सह कर आज भी अपने को जीवित और सुरक्षित रख पाया है। हाँ, भविष्य अवश्य संदिग्ध जान पड़ता है। कारण इनकी ओर अवहेलना है। मैंने गढ़वाली लोकगीतों को इस प्रकार विभाजित किया है।

## १ माँगल

मांगल गीतों में गढ़वाली संस्कृति का पूर्ण परिचय मिलता है। मांगल "मंगल" शब्द का सूचक है। मांगल गीत विवाह, चूड़ा-कर्म और जन्म दिनों पर प्रायः स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। विवाह के अवसर पर जब बारात लड़की के पिता के यहाँ पहुँचती है और धूलि अर्क समाप्त हो जाने पर कन्यादान का लग्न आता है, तो गाँव की स्त्रियां तथा कुमारियां कन्या के पिता से घूंघट में लिपटी दुलहिन की ओर से प्रार्थना करती हैः—

**दे देवा बाबा जी! कन्या को दान।**
**दानूं मां को दान हो लो कन्या को दान।**
**हीरादान, मोतीदान सब कोई देला।**
**तुम देल्या बाबा जी, कन्या को दान।**
**जिमिदान, भूमिदान, सब कोई देला।**
**को भागी देलो, कन्या को दान।**

अर्थात् हे पिता जी! कन्या का दान दीजिए। दानों में सबसे उत्तम दान कन्यादान है, हीरा और मोतियों का दान तो सब कोई देते हैं, किन्तु आप कन्या का दान दीजिए, सुवर्ण दान और भूदान सब करते हैं, किन्तु कौन बड़भागी होगा जो कन्यादान देगा।

हिन्दू समाज में जीवन के शुभ अवसरों पर जैसे ब्याह-शादियों में मधुर और शिष्ट गालियों का देना शुभ माना जाता है और यह एक रिवाज सा बन गया है। यहाँ तक कि कविश्रेष्ठ तुलसीदास भी राम-सीता की शादी के अवसर पर गालियों की मीठी-मीठी झड़ी लगाने का लोभ संवरण न कर सके। यह प्रथा गढ़वाली समाज में भी है। शादी के अवसरों पर खाते समय मांगल गानेवाली, मृदुल, कोकिल कंठ स्वरों से मंगल गालियाँ देकर अमृत वर्षा किया करती हैः—

**पूरी देंदा पोणो कंडी ल्हांद दीठ।**
**हमना नी जाणी, रूड़िया को जायो।**

मिठै देन्द पौणो, मिठाई ल्हाद दीठ।
हमना नी जाणो, हलवाई को जायो।

अर्थात्—हे पावनों ! हमें मालूम नहीं था कि तुम सड़िया के पुत्र हो, नहीं तो पूरियां देने के लिये हम कडी ( टोकरी ) तुमसे मँगाते। हे पावनों। हमें मालूम नहीं था कि तुम हलवाइयों के पुत्र हो, नहीं तो मिठाई तुमसे मँगाते और देते।

गढ़वाल में सबसे हृदयविदारक गीत बारात की विदाई के वक्त गाए जाते हैं। ये गीत साहित्य की एक विशेष निधि हैं। इन गीतों को सुनकर सचमुच महर्षि कण्व के वे वाक्य याद आ जाते हैं जो उन्होंने शकुन्तला विछोह के वक्त मलिनी के तट पर कहे थे। बारात विदा होने के वक्त मंगल्यारिया एक करुणाजनक गीत गाती हैं:—

कालाडाडा बीच बाबा जी ! कालीच कुएड़ी
बाबा जी ! एकुली मैं लगदी च डर।
एकुली एकुली मैं कनु कैकी जोलो ?
आगे दिउलों बेटी त्वी सकिल जनीन।
पाछ दिउलों बेटी त्वी हस्ती व घोड़ा;
त्वी दगड़ी नाला लाडी तेरा दीदा भुला।
त्वी मैं मेरी धिया मैं एकुली नी भेजू॥

अर्थात्—हे पिता जी, जहाँ मैं जा रही हूँ वह स्थान पहाड़ के पीछे है, जो काले बादलों से ढका है। मुझे डर लगता है वहाँ मैं अकेली अकेली कैसे जाऊँगी ? तब इस प्रश्न पर पिता कहते हैं—हे बेटी आगे-आगे तेरे समस्त जनीत ( जनता ) रहेगी, पीछे मैं तेरे घोड़ा और हाथी दूँगा। हे लाड़ली ! तेरे साथ तेरे भाई रहेंगे, तुझे मैं अकेले नहीं भेजूँगा''

## पवाड़ा—( राष्ट्रीय गीत )

पंवाड़ों को यदि गढ़वाल के अतीत इतिहास की एक रूपरेखा मानी जाय, तो अनुचित नहीं। पंवाड़ों के अन्तर्गत अक्सर हमें गढ़वाली वीरों की वीर गाथाएँ, उनके जीवन की झांकियाँ और सामयिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। पंवाड़े यहीं तक सीमित नहीं, उनमें स्वदेश प्रेम भी भरा पड़ा है। इन पंवाड़ों में वीर रस की प्रधानता रहती है। वीर योद्धा स्वदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये रणक्षेत्र की ओर जा रहे हैं। यह पंवाड़ा शायद १७ वीं शताब्दी का है। इस पंवाड़े में गढ़वाल के सभी प्रभावशाली व्यक्तियों, स्थानों और देवताओं को रण में जाने के लिये प्रोत्साहित किया गया है, इसमें गढ़वाल के कंकड़ों, किसानों, डाड़ों, खेतों, राजा, सिफाई अर्थात् सभी जड़ और चेतन प्राणियों को जाग्रत संदेश सुनाया गया है।

विजि जान धाँजि हे भूमि को भूम्पाल ।
" " " " देश को सयाणो ।
" " " " बोलांदो बदरी ।
" " " " चंफू की हुड़की ।
" " " " सैंदास को ढोल ।
" " " " रणसुरा बाजा ।
" " " " गढ़ का सपूतो ।

अर्थात्—हे देश-नरेश, राष्ट्रपति, श्री बद्रीनाथ जी चंफू की हुड़की, सैंदास को ढोल, रणस्थली के बाजों और गढ़वाल के सपूतों उठो और कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने की तैयारी करो । एक रणगीत सुनिए—

तौंका रघुवंशा घोड़ी छूटौना मरदो ।
तौना गंगाजली धागों धरियाला मरदो ।
तौना बख्तरी जामा पैरपाला मरदो ।
तौ कू क्षत्री-हुंकार चढ़ीगे मरदो ।
तोना खूनी का घट रिगैंना मरदो ।

गीत का अर्थ स्पष्ट है ।

## थड़्या-गीत

साहित्यिक दृष्टि से थड़्या-गीतों का गढ़वाली लोकगीतों में प्रथम स्थान है । इन गीतों में एक विशेष बात यह है कि इनमें शब्दों तथा भावों की कोमलता के साथ साथ साहित्य में जो सुन्दर और कल्याणमय होना चाहिए वह भी है । वसन्त ऋतु में स्त्रियों की टोलियाँ रात में खुले मैदान व आँगनों में इनको गाया करती हैं । थड़्या-गीतों की अपनी खास मौसम वसन्त है, जब प्रकृति अपनी जवानी का परिचय देकर सब को उन्मत्त बनाती है । शायद इन्हीं उन्मत्त भावों से प्रेरित होकर पड़्या-गीतों का जन्म हुआ है । माँ की लाड़ली पुत्री माणी मर गई है । शव सामने है । पर माँ को विश्वास नहीं होता कि उसकी लाड़ली उण्याला माणी सचमुच मर गई है । वह उसको उठने के लिये कहती है:—

मेरी उन्याला माणी व्वै ! विजी जादी ।
त्वी कैकी उद व्वै ! विजी जादी ।
सिखाणी को घाम पैढ़ाणी नीभिगे ।
साथ की पंदेरी पाणी लेकी ऐने ।
लोगू की बेटुली व्वै ! मैतुड़ा आली ।
रोई रोई रौलो, कैसी के देखुलो ?

लमड़्ड़ी मुखड़ी सतेरी-नाकुड़ी।
कुर्वरी आंखुड़ी कुमाली सी ड़ाए।
मेरी बेटी लाड़ली ! क्या ह्वे होलो तुई ?
ठ्वे विजी जादी।

अर्थात्—हे उन्याल माणी तू जाग जा। तुझे किसका डर है, जाग जा तकिया की तरफ की धूप अब पाँवों की तरफ़ चली गई है, अर्थात् धूप पूर्व से पश्चिम चली गई है। तेरी साथ की पनिहारिनी और घसियारिन घर आ गई है। अन्य लोगों की लड़कियाँ मैके आएँगी और मैं रो-रोकर दिन काटूँगी। मैं कैसे देख पांऊँगी तेरे लम्बे चेहरे और सीधी नाक, कुखुर करती आँखें और कुमाली (एक गानेवाली काली मुधुमक्खी जैसी मक्खी) जैसी हे लाड़ली तुझे क्या हुआ होगा ?

ऋतु वर्णन और भावुकता से भरा यह 'बेटी जाग जा' गीत बहुत ही करुणाजनक है। यह एक हिन्दू नवविवाहिता का हृदय-विदारक चीत्कार है। अपने माता-पिता, बन्धु-बांधवों से दूर नव विवाहिता एक अपरिचित परिवार (ससुराल) में माँ के वियोग के गीत गाकर अपने आपको भूलना चाहती है।

फूली गैना वणु बीच ग्वीराल-बुंराश।
भापन्याली डाल्यूं मांज घुघती घुराली ?
गैरी गैरी गदन्यू मा मेल्वाड़ी वांसली,
ऊंची ऊंची डांल्यूं मांज कफूं वासी जान्दा।
जौंकी वोई होली कनू मैतूड़ा बुलाली।
जौंका भाई होला देला अंगड़ी-टालखी।
मेरी वोई होन्दी मीतैं मैतुड़ा बुलांदी।

अर्थात्—बनों के बीच में ग्वीराल और बुरांद फूल गए हैं और पत्तों से लदे हुए पेड़ों में घुघती (एक तरह का पहाड़ी फाक्ता) गाएगी। गहरे गहरे गधेरों में मेल्वाड़ी (एक गाने वाली पक्षी) बोलेगी और ऊँचे ऊँचे पेड़ों में कफू (गानेवाली चिड़िया, यह अंग्रेजी कफू की तरह ही होती है) गाएगी। इस सुन्दर ऋतु में जिनकी माँ जिंदा होगी, वह अपनी लड़कियों को मैके बुलाएँगी; जिनके भाई होंगे वे अंगिया और धोती देंगे। हे ईश्वर मेरी माँ होती तो वह भी मुझे मैके बुलाती !

## खुद-गीत (स्मृति)

खुद शब्द गढ़वाली भाषा में स्मृति और विरह की भावना का सूचक है। इसका पर्यायवाची शब्द हिन्दी व अंग्रेजी में कोई नहीं। खुद शब्द का ठीक-ठीक मतलब उस भावना

को व्यक्त करता है, जो एक नवविवाहिता लड़की अपने सुसराल में अपने मैके की यादगारी के प्रति महसूस करती है; या विदेश में पड़ा व्यक्ति अपनी जन्मभूमि, परिवार और विशेषकर अपनी प्रेयसी की स्मृति में उसके प्रति अव्यक्त मूक भाषा में भीतर ही भीतर महसूस करता है। गढ़वाल पहाड़ी इलाका है। जब कोई लड़की शादी होने के पश्चात् अपने सुसराल जाती है, तो उसका मैका पहाड़ों के पीछे अदृश्य हो जाता है और तब वह 'खुद' महसूस करती है। अतः इन भावनाओं के पीछे गढ़वाली लोकगीतों में खुद-गीतों का प्रचुर मात्रा में प्रचार होना स्वाभाविक है। गढ़वाल में जो गीत सबसे अधिक प्रचलित हैं वह 'सदेई' है। सदेई वैसे तो एक बहुत लम्बा गीत है, जो एक प्रकार का खण्ड काव्य-सा बन गया है, उदाहरणार्थ नीचे कुछ पंक्तियाँ दे दी जाती हैं।

एक सुकुमारी अपने मैके की याद में व्याकुल है। अपने ससुराल से मैके की याद का ऊँचे ऊँचे पहाड़ और घने घने ऊँचे चीड़ के पेड़ों से कहती है:—

**हे ऊँची डांडियों, नीसी होवा,**
**घणी कुलाई, छांटी होवा।**
**मैं कू लगी छ खुद मैतुड़ा की,**
**देश बाबा जी को देखणा देवा॥**

अर्थात्—हे! ऊँची ऊँची पहाड़ियों, तुम झुक जाओ, घनी घनी कुलाइयों (चीड़ के पेड़ में) तुम छंट जाओ। मुझे अपने मैके की खुद लगी है, अपने पिताजी के देश को देखने दो।

एक दुलहिन ससुराल जा रही है और सिसक सिसक कर रो रही है। एक व्यक्ति पूछता है:—

**कुलैं—स्यूंसाट बीच, घुघती सी रूँदी,**
**ठ्यौला ममत्याली, कै दूधा वैक?**
**हरयाली नौली कैकी? पराणि-सी खूँदी,**
**कनू भरनी गल, डिवली भरी आँसू की।**
**कनूं कुतमुती कुभेड़ी, विनादी सी गारी।**
**पैट खुदाली भेंट दी, जिकुड़ी-जिकुड़ी मूल्य की।**

अर्थात्—चीड़ के पेड़ों की सनसनाहट के बीच तू हे ममतावाली नव विवाहिता! क्यों घुघती (पहाड़ की फाकता) की तरह रो रही है? तू किसकी सुकुमारी है, जो रो रोकर प्राण खोना चाहती है? बेचारी कैसा गला भर रही है और उसकी आँखों की पुतलियां आंसुओं से कैसी भरी हैं? तेरा रोना सावन की बदली और आंखों के अन्दर की कंकड़ की तरह दुःखदाई है। बेचारी खुदाली (खुद में विसर्जित) अपनी छोटी बहिनों को हृदय लगा कर भेंटती और रवाना होती है।

एक प्रेमी परदेश में हैं उसकी प्रेयसी चांदू गढ़वाल में है। सावन का महीना है। वह अपनी चांदू और गढ़वाल के विरह में गाता है:—

चांदू! त्वैतैं मी कलै नी पांदू?
घुमड़ी घुमड़ी ऐगे कुमेड़ी
बूंदा ये बरसाणा लागी
गड़-गड़ बदली बोलणा बैठी
जिकुड़ी जगी गै आगी।
बदली ए बरसाणा लागी।
चांदू तरी वा खुद चा लगीं।
डाडी व कांडी ढकी सी गैंना
छन्यूं मां भिजी गे वाछी
भोली भाली या कवरिया गोड़ी
जाड़ोनी लेंदी उसासी।

अर्थात्—हे चांदू। मैं तुझसे क्यों नहीं मिल पाता? बादल घुमड़ घुमड़ कर बूंद बरसाने लगे हैं। बादलों की गरज सुनकर हृदय में आग सी लग रही है। बादलों के बरसते वक्त हे चांदू मुझे तेरी खुद लग रही है। हे चांदू! तुम्हारी कांठी बादलों से ढक गई होगी। गोशाला में छोटी बछिया भीग गई होगी। मेरी भोली-भाली कबरी गाय जाड़े से सिसक रही होगी।

## देव गीत

गढ़वाल पहाड़ी प्रदेश है जहाँ परम्परा से देवी-देवताओं का निवास स्थान माना जाता है। अतः यहाँ देव-गीतों का होना भी स्वाभाविक है। देव गीतों में यहाँ पांडव-गीत बद्री केदार-गीत, ज्वाल्पादेवी के गीत, नरसिंह के गीत तथा अन्य देवी देवताओं के गीत गाए जाते हैं। पूजा-अनुष्ठान के वक्त भी इन गीतों को गाया जाता है। अछूत जातियों में भूतों की पूजा अक्सर होती है। इन भूतों की जब पूजा होती है तो रखवाली की जाती है और रखवाली भी एक प्रकार के गीत हैं।

## बारामासी

बारामासी गीत ऋतुओं के अनुसार गाए जाते हैं। सबसे अधिक रोचक बारामासी वसन्त और शरद के होते हैं। बारामासी प्रकाशित भी हो चुके हैं।

## सामयिक

यह सभी जानते हैं कि गढ़वालियों का खास पेशा फौजी नौकरी है। सिपाही जब दूर रण-क्षेत्र में चले जाते हैं तो उस वक्त जिन गीतों की रचना होती है, वे भी कम महत्व के नहीं होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी सामयिक गीतों का प्रचार गढ़वाल में है।

# हिन्दी साहित्य के इतिहास में लोक साहित्य की भूमिका

नामवर सिंह

"भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने परिचित ग्राम गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपरा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है!" इस बात का अनुभव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'इतिहास' में स्वच्छंदता वादी नवीन काव्य धारा पर विचार करते समय संभवतः सं० १६८६ वि० के आसपास ही किया। परंतु इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन अभी तक नहीं हो सका। स्वयं शुक्ल जी ने सूरदास के पदों और जायसी के पद्मावत के आख्यान का विश्लेषण करते समय सांकेतिक रूप से लोक-साहित्य के प्रभावों का उल्लेख किया है। सूरदास के पदों के विषय में वे लिखते हैं "अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" इसी तरह जायसी के 'पद्मावत' पर उनका कहना है, "उत्तर भारत में विशेषतः अवध में, 'पद्मिनी रानी और हीरामन सूए' की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है।···इस सम्बन्ध में हमारा यही अनुमान है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके, उसे काव्य का सुंदर स्वरूप दिया है।" ये बिखरे सूत्र उपयोगी हैं। परन्तु आवश्यकता है इस दृष्टि से संपूर्ण हिंदी-साहित्य के इतिहास की प्रवहमान धारा में पाए जानेवाले लोक-साहित्य के तत्वों को खोजने की। यह कार्य इतिहासकारों की असावधानी, आलस्य या अज्ञान के कारण ही नहीं रुका रहा, बल्कि लोक-साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का दृष्टिकोण ही कुछ और था।

हमारे यहाँ लोककथाओं, लोकगीतों तथा लोकप्रथाओं का अध्ययन १६ वीं शती के उत्तरार्ध में संभवतः ईसाई मिशनरियों ने आरंभ किया। ये मिशनरी यूरोप के उन देशों से आए थे जहाँ औद्योगिक उत्थान, मध्यवर्ग का उदय तथा राष्ट्रीयता की जागर्ति बहुत पहले ही हो चुकी थी और इसलिए उनके यहाँ लोक-साहित्य का अध्ययन बहुत पहले ही आरंभ हो चुका था। हमारे देश में धर्म प्रचार करते समय उन्होंने प्रायः अपना क्षेत्र पिछड़ी हुई आदिवासी जातियों के बीच बनाया। धर्म-प्रचार के लिये आवश्यक था कि उन जातियों की भाषा और संस्कृति से परिचय हो। इसलिए उन्होंने उन जातियों की भाषा, साहित्य तथा प्रथाओं का अध्ययन किया। उन जातियों से सजातीयता अथवा बन्धुत्व का मधुर सम्बन्ध न होने के कारण उस अध्ययन में भी वह तन्मयता, भावुकता तथा सहृदयता न आ सकी। प्रायः सारी सामग्री तथ्यपरक रही। यों जंगलों और पहाड़ों में निवास करनेवाली जातियों का साहित्य कल्पना मात्र से ही मन में रोमानी भाव भरने के लिये काफी है। लेकिन ईसाई मिशनरियों की यह तथाकथित वैज्ञानिक सामग्री प्रायः जड़ 'म्यूज़ियम रुचि' की ही वस्तु रही और इसीलिए साहित्य के इतिहासकारों

को प्रत्यक्ष प्रेरणा न दे सकी। उसके प्रेरणादायक न हो सकने का एक कारण यह भी है कि उसमें अधिकांश सामग्री हिंदी साहित्य के भौगोलिक क्षेत्र के बाहर की थी।

लोक साहित्य के अध्ययन की ओर सहज भाव से स्वदेशी मध्यवर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन आरंभ होने के बाद ही उन्मुख हुआ। इसका श्रेय गांधी जी को है। पं० रामनरेश त्रिपाठी को उसी लहर से प्रेरणा मिली और वे इस क्षेत्र के पहले नहीं तो प्रारंभ करनेवालों में एक तो हैं ही, जिन्होंने लोक साहित्य का संग्रह किसी डिग्री के लिये नहीं बल्कि रुचि और रसवश किया। उनके बाद इसी के पीछे पड़ जानेवाले देवेन्द्र सत्यार्थी का दृष्टिकोण बहुत कुछ रोमांटिक ही रहा। इसीलिए इन अध्येताओं का ध्यान प्रायः लोकगीतों तक ही सीमित रहा। यह अध्ययन भी इतिहास लेखन के कार्य में विशेष उपयोगी न हो सकता था। अवश्य ही इससे काव्य-रचना में बहुत सहायता मिल सकती थी जैसा कि त्रिपाठी जी ने करके दिखा भी दिया।

शुक्ल जी का इतिहास ऐसे ही युग में लिखा गया। इसीलिए उनकी दृष्टि अपने युग के स्वच्छंदतावादी काव्य तथा लोक साहित्य के सम्बन्धों पर तो गई लेकिन अतीत की काव्य-परंपरा में लोक साहित्य के समुचित योग की ओर न गई। भाषा के विकास में लोक-योग की ओर तो उनका ध्यान गया क्योंकि प्राकृत-अपभ्रंश आदि की सामग्री प्राप्त होते ही यूरोपीय विद्वानों ने १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही इस तथ्य की ओर ध्यान दिया था, लेकिन साहित्य के इतिहास में यह सहयोग अनदेखा रहा। साहित्य के क्षेत्र में शुक्ल की का ध्यान अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की गतिविधि का ही विधान करता दिखा, "जब-जब शिष्टों का काव्य पण्डितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन-प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।" इतना ही नहीं, उनकी सूक्ष्म-दृष्टि ने इस विषय में आगे बढ़कर 'उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करने' की दिशा बताई—ऐसा पुनर्विधान जो 'सामंजस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।'

लोक साहित्य के अध्ययन का अगला चरण वह आता है जब राष्ट्रीय आन्दोलन में लोकशक्तियां आगे बढ़कर भाग लेती हैं और 'जनता' संपूर्ण राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आंदोलनों का केन्द्र हो जाती है, स्वतंत्रता का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है; लोकतंत्र की मान्यता अधिक विस्तृत होती है। यह परिवर्तन लगभग इस शंती के चौथे दशक से दिखाई पड़ता है। इस भूमिका में लोक-साहित्य हमारी रोमानी भावना का उत्तेजक और उत्प्रेरक मात्र नहीं रहता, बल्कि वह युगनिर्माता प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं लोक शक्तियां भी इतिहास-विधायक के रूप में प्रकट होती हैं। उस समय महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी आदि की जनपदीय योजना तथा अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के जनपदीय कार्यक्रम का आरंभ इसी चेतना की सूचना देता है। इसी काल में विश्वविद्यालयों ने इस विषय के निबंधों के लिये स्वीकृति और सम्मान दिया।

इस भूमिका में साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। परन्तु ध्यान आकृष्ट होना ही काफी नहीं है। उसके लिये यथोचित सामग्री तथा वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि भी आवश्यक है। जहाँ तक सामग्री का संबंध है, वह बहुत कम है। राजस्थान के विद्वानों ने इस दिशा में अवश्य कुछ काम किया है। परंतु जब तक अलग अलग सभी जनपदों की लोककथाओं और गीतों का संग्रह नहीं हो जाता तब तक न तो उस सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन ही हो सकता है और न उसके कालांतरजन्य स्तरों का विश्लेषण ही। पर्याप्त सामग्री के अभाव में सामान्य नियम चालू करना खतरे से खाली नहीं है।

सामग्री संग्रह के साथ-साथ उस ऐतिहासिक पद्धति का भी अभ्यास होना आवश्यक है जिससे प्राप्त सामग्री का उपयोग किया जा सके। इस विषय में अन्य देशों में होनेवाले कार्यों तथा अनुभवों से लाभ उठाना स्वाभाविक है। इस पद्धति के स्पष्टीकरण से सामग्री-संग्रह में भी सहायता मिल सकती है। अस्तु।

सबसे पहली बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि लोक-साहित्य तथा शिष्ट-साहित्य का सम्बन्ध लोक और शिष्ट मानव समूहों के सम्बन्ध पर निर्भर है; और चूँकि ये सामाजिक सम्बन्ध क्रमशः बदलते रहे हैं इसलिए लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के सम्बन्ध भी तदनुरूप परिवर्तित होते रहे हैं इसीसे यह सिद्धान्त उत्पन्न होता है कि शिष्ट-साहित्य की तरह लोक-साहित्य भी क्रमशः बदलता रहा है। लोक-साहित्य कोई स्थित वस्तु नहीं है। यह इसलिए कहना पड़ता है कि अनेक विद्वान् बिना काल-भेद के लोकसाहित्य का संग्रह और उपयोग करते हैं।

इस ऐतिहासिक विकास-क्रम की बात ध्यान में न रखने के कारण प्रायः 'लोक-साहित्य' को 'आदिम-साहित्य' और 'जन-साहित्य' के साथ घपला कर दिया जाता है।

'आदिम साहित्य' सामान्य जन के उस युग का साहित्य है जब मानव-समाज का संघटन अत्यंत घनिष्ठ और उच्चकोटि की पारस्परिक सहकारिता पर आधारित था, नगर और गाँव का विभाजन था; समाज शिष्ट और सामान्य व्यक्तियों में विभाजित न था अथवा था भी तो वह विभाजन बहुत मामूली तरह का था; रुचि-भेद इतने बड़े पैमाने पर न था। यद्यपि आधुनिक युग ने वर्तमान आदिवासी जातियों को कुछ कुछ प्रभावित कर दिया है फिर भी उनके साहित्य से 'आदिम साहित्य' का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु 'लोक-साहित्य' इसके बादवाले उस युग का साहित्य है जिसमें शिष्ट और सामान्य का भेद स्पष्ट और क्रमशः स्पष्टतर होता गया। 'लोक-साहित्य' शब्द से ही उसके समानान्तर किसी 'शिष्ट साहित्य' के अस्तित्व का आभास मिलता है। 'लोक-साहित्य' आदिम साहित्य की अपेक्षा अधिक विकसित समाज-व्यवस्था की उपज है। फिर भी 'लोक-साहित्य' ने 'आदिम साहित्य' की विरासत सँभाली, जैसे—प्रतीकों, काव्य रूढ़ियों, कथानक रूढ़ियों, आदि के अतिरिक्त मुख्य विरासत है किंवदन्तियाँ गढ़ना ( मिथ-मेकिंग )।

इधर जब से 'जन-साहित्य' शब्द का प्रचलन हुआ है, 'लोक-साहित्य' की सीमारेखा निर्धारित करने के लिये उसका भी ध्यान रखना आवश्यक हो उठा है। पार्थक्य की स्पष्ट रेखा खींचने की कठिनाई के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'जनसाहित्य' औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करनेवाले सामान्य जन का साहित्य है।

इसलिए जन-साहित्य लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोकसाहित्य जहाँ जनता के लिये **जनता ही द्वारा** रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिये **व्यक्ति द्वारा** रचित साहित्य है। 'लोक-साहित्य' जनता द्वारा रचित होता है इसका अर्थ यह नहीं कि सारा जग समूह एक साथ बैठकर एक एक शब्द और पंक्ति गढ़ता है। वस्तुतः लोकसाहित्य भी व्यक्तियों द्वारा ही रचा जाता है परन्तु वह रचयिता व्यक्ति अपने संपूर्ण श्रोता समाज का प्रतिनिधि मात्र होता है; यदि लोक-समाज भावराशि है तो रचयिता व्यक्ति अभिव्यक्ति का माध्यम। प्रायः लोक गीतों की मंडली में देखा जाता है कि एक व्यक्ति स्वर उठाता है और शेष श्रोता समाज ड्यौढ़ा भरकर उसे सहारा देता चलता है। इस प्रकार श्रोता समूह अपनी सुगमता और रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रचित कहानियों और गीतों में यथावस्थान संशोधन भी करता चलता है। लोक कथाओं और गीतों में पाठ-भेद तथा उनके रचयिताओं के अज्ञात या अनाम होने का यही रहस्य है। अस्तु, लोक-साहित्य में रचयिता व्यक्ति जन समूह का माध्यम मात्र है जब कि जन-साहित्य में रचयिता व्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य है ऐसा इसलिए हुआ कि औद्योगिक समाज में पहले की अपेक्षा व्यक्ति-स्वातंत्र्य अथवा व्यक्तिवाद अधिक आ गया है। 'जन-साहित्य' का ढाँचा भी लोक-साहित्य से भिन्न होता है; वह लोक साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता; बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। संक्षेप में, जन-साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह संवेदन के फल स्वरूप सामान्य जन के लिये अभिव्यक्त होता है।

आदिम साहित्य और जन साहित्य से लोक साहित्य का अंतर स्पष्ट हो जाने के बाद लोक साहित्य की परिवर्तनशील गतिविधि को लेना चाहिए।

प्रायः लोग लोक-साहित्य को आधुनिक युग से पूर्व तक की ही वस्तु समझते हैं और उनके संकलित गीतों का अधिकांश आधुनिक युग की उपज नहीं है, बल्कि वे मध्ययुग से ही परंपरया चले आ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मशीन युग ने लोक साहित्य, विशेषतः लोकगीतों की रचना को गहरा धक्का पहुँचाया है। यह धक्का हमारे देश में अभी उतना नहीं महसूस होता जितना यूरोपीय देशों में। शक्ति अर्जित करके फिर श्रम में तत्पर होने के लिये। चाहे वह चक्की का गीत हो, चाहे रोपनी का; चाहे मछुए का गीत हो या गाड़ीवान का—सबमें यह बात पाई जाती है। लेकिन बिजली से चलनेवाली आटे की चक्की ने पुरानी चक्की के गीतों की भावुकता समाप्त कर दी। इसी प्रकार जहाजरानी और रेल ने हमारे देश के मध्ययुगीन नौका-व्यापार को इतनी गहरी ठेस पहुँचाई कि अब नावों की लम्बी लम्बी यात्रा भी समाप्त हो गई और उनके साथ उन यात्राओं की कहानियां और गीत भी चले गए। अब तो 'एंशिएंट मैरिनर' जैसी शिष्ट साहित्य की रोमानी कहानियों में ही उनकी याद रह गई। इस तरह मध्ययुग की साज-सज्जा के साथ ही मध्ययुग के लोकगीतों के बीज भी धीरे धीरे लुप्त हो रहे हैं। पर पुरातन का ध्वंस जिस गति से हुआ, उसी गति से अधुनातन का निर्माण नहीं हुआ। आधुनिक युग की मशीनों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध इतना गाढ़ा नहीं हो सका है कि वे लोकगीतों के प्रेरक बन सकें। बिजली की रोशनी फैल चली है, फिर भी मिट्टी का दिया ही हमारी कल्पनाओं और भावनाओं का संबल है। संदेशवाहन के लिये डाकतार की नवीन व्यवस्था हो गई है फिर भी शुक-सारिका-हंस आदि पक्षियों का

द्वारा सन्देश भेजने की मोहक कल्पना आज भी मन को रोमांचित करती है। फिर भी इन मशीनों के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक लोकगीत रचे गए हैं जिनमें कहीं रेल को सौत कहा गया है तो कहीं उसे वैरी। सम्भव है मशीनों के सम्पर्क में रहनेवाले श्रमजीवियों के लोकसाहित्य में मशीनों से प्रभावित उपमाओं और कल्पनाओं को स्थान मिले। आज भी स्त्रियों के गीतों में प्राचीनता की छाप अधिक है। पुरुषों के गीत अपेक्षाकृत अधिक सामयिक और अधुनातन हैं। अपने युग की राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं को प्रतिध्वनित करने में वर्तमान लोक-साहित्य शिष्टसाहित्य से किसी प्रकार कम नहीं है।

लोक-साहित्य के क्रमिक विकास की ओर ध्यान रखते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि लोक-साहित्य शिष्ट-साहित्य की अपेक्षा बहुत ही परम्परा-विहित होता है। जिस प्रकार हमारे कृषि के साधनों और ग्राम-संघटन के आधारों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है, उसी प्रकार हमारे लोक-साहित्य के ढाँचे में भी। 'सोने की थाली में जेवना परोसलिउँ' तथा 'लौंग खिली खिली बिरवा लगवलिउँ' पंक्तियां प्रायः सभी भोजपुरी लोकगीतों में भोजन के प्रसंग में निरपवाद रूप से आती हैं। इसी रूढ़ि-निर्वाह के कारण लोकप्रथाओं के अध्ययन के लिये लोक-साहित्य सर्वाधिक उपयोगी समझा जाता है।

लोक-साहित्य की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही शिष्ट-साहित्य से उसके सम्बन्धों पर विचार करना उचित होगा।

साहित्य के इतिहास में दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए तीन बातों से सावधान रहना चाहिए। एक तो यह कि हर जगह में शिष्ट-साहित्य पर लोकसाहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव खोजना गलत होगा; दूसरा यह कि शिष्ट साहित्य अपने समसामयिक लोकसाहित्य से ही प्रभाव ग्रहण नहीं करता बल्कि कभी—कभी वह लोक-साहित्य की अतीत सम्पदा का भी उपयोग करता है। ऐसे स्थलों पर समसामयिकता का मोह छोड़ना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। तीसरा यह कि साहित्य के इतिहास के निर्माण में लोकसाहित्य ही सब कुछ नहीं है बल्कि वह अनेक विधायक तत्वों में से एक है। इससे इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और महान युगों की जीवनी शक्ति का पता चल सकता है। इतिहास के ह्रासयुग और उत्थान युग के तुलनात्मक मूल्यांकन में भी लोक-साहित्य के न्यूनाधिक प्रभाव का विश्लेषण उपादेय होता है; क्योंकि प्रायः उत्थान युग का साहित्य लोकसाहित्य के अधिक निकट पड़ता है।

इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि आरंभिक नाराशंसी वीरकाव्यों तथा प्रेमगीतों पर राजस्थानी लोकवार्ताओं का गहरा प्रभाव है। यद्यपि रासो काव्यों के कथानक पर प्रायः पूर्व परम्परागत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश युग की प्रसंग-रूढ़ियों का निर्वाह है, फिर भी अनेक लोकप्रचलित किंवदन्तियाँ भी जुड़ गई हैं। पृथ्वीराज रासो में होली और दीवाली सम्बन्धी ऐसी ही किंवदन्तियाँ दी गई हैं जो पौराणिक परम्परा से भिन्न हैं। परंतु विरुद् काव्यों से कहीं अधिक उस युग के प्रेमकाव्य लोकगीतों से प्रभावित हैं—प्रभावित क्या, प्रायः लोकगीतों के ही संग्रह हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' ऐसा ही

लोक-काव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये काव्य मौखिक परम्परा से बहुत दिनों तक सामान्य जन के बीच गाए जाते रहे हैं, फिर कुछ लोगों ने उन्हें कालान्तर में लिपिबद्ध कर दिया। अथवा किसी प्रतिभासंपन्न सुशिक्षित कवि ने उनको अपनाकर परिष्कृत रूप दिया। 'पालि' की थेरी गाथाओं के ललित गीत, प्राकृत की 'गाहासत्तसई', अपभ्रंश में मुंज के दोहे तथा 'संनेस रास' आदि ऐसे ही काव्य हैं।

आदि युग के इन मौखिक लोकगीतों तथा प्रेमाख्यानों की पृष्ठभूमि पर हिंदी का सन्त और भक्ति काव्य उदय हुआ। कबीर ने अनेक लोकप्रचलित ऐहिक प्रेमगीतों को आध्यात्मिक छौंक देकर ज्यों का त्यों अपना लिया। कबीर के अनेक दोहे 'ढोला-मारू' काव्य में ज्यों के त्यों मिलते हैं।

अंबर कुंजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिनपैं गोबिंद बीछुटे तिनको कौण हवाल ॥ ( कबीर )
राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥ ( ढोला० )
यह तन जालौं मसि करौं, धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥ ( कबीर )
यहु तन जारी मसि करूँ, धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्गि ॥ ( ढोला० )

और मुहावरों तथा पदावली के ग्रहण का तो कहना ही क्या ? उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनकी परम्परा बड़ी पुरानी प्रतीत होती है क्योंकि उसे कई कवियों ने दुहराया है। जैसे, ढोला० काव्य में—

'जे दिन मारू विण गया, दई ण ग्यांन गिणंत,

कहा गया है तो कबीर में—

जे दिन गये भगति बिन ते दिन सालैं मोहिं।

और तुलसीदास के रामचरित मानस में—

जिन दिन गए राम बिनु देखे। सो बिरंचि जनि पारहिं लेखें ॥

इसी प्रकार सूरसागर के सम्यक् विश्लेषण से भी अनेक महत्वपूर्ण लोकतत्त्वों का पता चल सकता है। सूर के पदों में अनेक प्रसंगगर्भी स्थल ऐसे हैं जो ब्रज प्रदेश की लोकवार्ताओं की ओर संकेत करते हैं। कहावतों और मुहावरों का सहज प्रयोग देखकर साफ मालूम होता है कि सूरदास ने भाषा गढ़ने का प्रयत्न नहीं किया है बल्कि ज्यों का त्यों लोक-प्रचलित टकसाली भाषा को उठाकर रख दिया है। बाल कृष्ण के प्रति कहे हुए नन्द और यशोदा के वत्सल वाक्य व्यवहार के अतिशय निकट हैं न कि गढ़े हुए।

'कहा कथत मामी के आगे नानी नानन'
'धान को गाँव पयार तें जानौ...' 'बहे जात माँगत उतराई'

'घर ही के बाढ़े', 'कत पट पर गोता मारत हौ' आदि मुहावरे ठेठ बोल-चाल के हैं। सूर के केवल मुहावरों का अध्ययन ही लोकवार्ता के अनेक तत्त्वों को प्रकाश में लाने के लिये काफी है, फिर स्वर, लय आदि का अध्ययन तो बारीक बातें हैं।

इसी तरह जायसी और तुलसी का काव्य अवध खण्ड की लोकवार्ताओं को सूक्ष्म ढंग से प्रतिध्वनित करता है। तुलसीदास ने लोकवार्ता के तत्त्वों को कुछ सुसंस्कृत और परिष्कृत कर दिया है किन्तु जायसी में वे बातें उसी कच्चे रूप में मिलती हैं। जायसी ने लोकप्रचलित कथा ही नहीं ली है बल्कि उनका बारहमासा भी लोकगीतों की मौखिक परंपरा से जुड़ा हुआ है। राजरानी नागमती सामान्य कृषक गृहिणी की भाँति वन-वन रोती फिरती है और उसके विलाप के समय सामान्य जनों के प्रतिनिधि कवि जायसी भूल जाते हैं कि वह रानी है। वर्षा में अपने घर को छाने-छोपने की चिंता जिस प्रकार कृषक वधू करती है उसी प्रकार रानी नागमती भी कहती है—भले ही वह कथन प्रतीकात्मक हो—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा॥

'बारहमासा' की परंपरा भी हिंदी की अपनी है। संस्कृत अपभ्रंश आदि में षड्ऋतु वर्णन की परंपरा थी, बारहमासा की नहीं। निश्चय ही इसका आधार लोक-प्रचलन रहा होगा। जायसी के बारहमासा के दोहे प्रायः स्वतंत्र से हैं; संभव है कवि ने उन्हें लौकिक परंपरा से ज्यों का त्यों उठा लिया हो।

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं देवंत वसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥

जैसे दोहे का भाव इधर के एक लोकगीत में अब भी मिलता है।

पूरे 'पद्मावत' में 'सुआ' का इतना महत्त्व लोक-आख्यायिकाओं की याद दिलाता है; संस्कृत काव्यों में शुक की अपेक्षा 'हंस' अधिक ग्राह्य रहा है। विपत्ति पड़ने पर गौरा पार्वती और महादेव जी का आना प्रायः लोक-कथाओं में रूढ़ि बन गया है और उसे जायसी ने भी अपनाया है। ( दे० २२ वाँ अध्याय )। पद्मिनी रानी, सिंहल द्वीप, जोगी प्रसंग में गोरखनाथ आदि की ओर संकेत आदि बातें लौकिक परंपरा की रूढ़ियाँ ही हैं। लौकिक परंपरा की दृष्टि से पद्मावत सर्वाधिक समृद्ध ग्रंथ है—कथानक, कहावत, मुहावरा, काव्योपमा, प्रसंग सृष्टि, रूप-वर्णन आदि सभी दृष्टियों से वह सजीव कोश है।

तुलसीदास ने शिष्टसाहित्य और सामान्य लोक दोनों ही साहित्यिक परंपराओं की गंगा जमुनी छटा निभाई; लोक-साहित्य का प्रभाव बहुत छने हुए रूप में उतरा है। फिर भी सोहर आदि ग्रामीण छंदों में रामचरित की व्यंजना करके उन्होंने अपने लोकानुराग का अच्छा परिचय दिया है।

उस युग में अवध प्रान्त के ठेठ लोकगीतों को जिस कवि ने अत्यन्त मार्मिकता के साथ अपनाया, वे थे 'बरवै नायिका भेद' के रचयिता रहीम। यों तो तुलसीदास ने भी बरवै लिखा है लेकिन रहीम के बरवै में गँवई धरती की सहज गंध आ बसी है। मामूली स्थिति की दीन-हीन नारी का सुख-दुख उनके बरवै में मूर्तिमान हो उठा है—

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
टाट टूट घर टपकत, खटियौ टूट।
पिय की बाँह सिरहनवाँ सुख कै लूट॥

यह नायिका भेद परवर्ती परिपाटी विहित साँचों से भिन्न है और उसमें भारतीय जीवन पूर्ण कटुता तथा माधुर्य के साथ उभर आया है। दरबार में ऊँचे पद पर रहते हुए भी रहीम ने सामान्य जनों की अनुभूतियों को वाणी दी, यह महत्वपूर्ण तथ्य है।

शिष्टसाहित्य का लोक-साहित्य से यह सान्निध्य पन्द्रहवीं सोलहवीं शती के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का परिणाम है जिसमें सारा भारतीय समाज नीचे से ऊपर तक एक नए ढंग के रागात्मक सम्बन्ध और सहभाव का अनुभव करने लगा था। संत और भक्त कवि इस सौमनस्य के अमर गायक थे। जाति-भेद और वर्ण-भेद की खाइयों को मानवता की सरस धारा से आप्लावित करते हुए इन लोकदर्शी कवियों ने साहित्य का वह आदर्श स्थापित किया जिसमें सामान्य जन का हृदय अपनी पूरी संवेदना के साथ शताब्दियों बाद पहली बार उजागर हुआ। इसी बहुजनस्पर्शी चेतना तथा सहानुभूति ने भक्ति काव्य को यह शक्ति दी जो युग युग तक मानव-हृदय को रससिक्त कर सके तथा आपदाओं में भी निराश न हो। उस पराधीन दरबारी और ह्रासशील युग में भी जो उच्चकोटि की काव्यरचना हुई उसका मुख्य कारण यही कि ऊपरी धरातल के कीच-काच के नीचे सामान्य जनसमूह की अजस्र और व्यापक अन्तःसालिला मौन किन्तु शक्तिशाली रूप में तटवर्ती भूमिभाग को प्रभावित कर रही थी। ह्रास युग में भी प्रत्येक महान काव्य की पीठिका में यही प्राणमयी लोकधारा रही है और जिस युग में यह लोक धारा जिस हद तक जागरूक तथा गतिशील रही है, वह युग उतनी ही श्रेष्ठ कृतियों का जनक रहा है।

सोलहवीं सदी के बाद लगभग दो ढाई सौ वर्षों का हिन्दी साहित्य इस लोकधारा से विच्छिन्न होकर ऊपरी धरातल के पंक में फँसा रहा। इसलिए वह काव्य प्रायः किताबी रहा। भाव प्रायः पुरानी रूढ़ियों पर इधर उधर पालिश लगाकर चमक पैदा करनेवाले रहे और भाषा की काट-छाँट भी बोलचाल से दूर केवल शिष्टों के मनोरंजन की वस्तु रह गई। बिहारी के दोहों को इस युग का प्रतिनिधि काव्य मानकर सारी बातें स्पष्ट की जा सकती हैं। बिहारी के अनेक दोहे गाहा सत्तसई, आर्या सप्तशती आदि पूर्ववर्ती संस्कृत मुक्तकों में जरा-जरा सा वैशिष्ट्य लाकर चमत्कृत करते दिखाई पड़ते हैं; परन्तु उनमें गाहा सत्तसई की वह ताज़गी

और सादगी नहीं। ग्रामीणों के प्रति हेठी नज़र से देखनेवाले कवि से ऐसे काव्य के अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती है! जो कवि यह लिखता हो कि—

सबै हँसत करतार दै नागरता के नाँव।
गयौ गरब गुन कौ सरबु, गएँ गँवारैं गाँव॥

और जिस नागर कवि की सौन्दर्य दृष्टि भी इतनी उच्चवर्गीय हो कि ग्रामवधू की खिल्ली उड़ाए—

नागरि, विविध विलास तजि, बसी गवेंलिनु माँहि।
मूढनि में गनबी कि तूँ, हूठ्यौ दै इठलाहि॥

उससे यह उम्मीद करना बेकार है कि लोकसाहित्य से प्रेरणा ग्रहण करे। अब सामान्य जन के लिये काव्यरचना करे। रीतियुगीन साहित्य की संकीर्णता-निकृष्टता का यह रहस्य है।

पश्चात् १६ वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के साथ देश में एक बार फिर समाज के विभिन्न स्तरों के अन्तर्वैयक्तिक संबंधों में गर्मी आई। नई शिक्षा के साथ नया मध्यवर्ग पैदा हुआ जिसका एक पाँव ग्रामीण संस्कारों में था और दूसरा अपने से ऊँचे लोगों में स्थान पाने को उन्मुख। भारतेन्दु का उदय इसी संधि वेला में हुआ जिनके साहित्य में सामान्य जन की भावप्रतिमा भलीभाँति प्रकट हुई। धीरे धीरे औद्योगिक विकास के कारण पूरा समाज नगरों और गाँवों में बँट चला। एक ओर स्कूल, कालेज, कचहरी, दफ्तर आदि में नौकरी-पेशा लोगों का समुदाय और दूसरी ओर गाँवों का जातियों, वर्णोंवाला किसान समुदाय। मध्य युगवाला वह घनिष्ठ संबंध टूट चला। भक्ति युग के समाज में जातिभेद, वर्णभेद के बावजूद पारस्परिक संबंध घना था। इस युग में जो आर्थिक जातिव्यवस्था बनी उसमें मालिक, नौकर, शहरी, गँवार की ऐसी भेद-भावना आई जिसने जनसंपर्क मात्र के प्रति घृणा जगा दी।

इधर हमारी राष्ट्रीयता ने और व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया है और उसमें समाज का स्वयं निचला स्तर ही उभर कर भाग लेने लगा है। इस उभरती हुई सामाजिक चेतना के प्रति सहानुभूति रखनेवाले मध्यवर्गीय कवियों ने नए ढंग के साहित्य की रचना आरम्भ कर दी है। लेकिन ग्रामजीवन से यथेच्छ साहचर्य और सम्पर्क के अभाव में साहित्य के ये नए प्रयत्न सजीव तथा मार्मिक नहीं हो पा रहे हैं। फिर भी इन प्रयत्नों में लोकसाहित्य से प्रेरणा ग्रहण करने की ललक है, इसीलिए इनमें विकास के बीज भी हैं।

संक्षेप में यही है हिन्दी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य के योगदान की रूपरेखा।

# गाहा और पल्हाया

## वासुदेव शरण

'मल्होर' के लेखक श्री गणेशदत्त गौड़ ने कुरु जनपद में घूमकर लोकसाहित्य की सामग्री अपने एम० ए० निबन्ध के लिये इकट्ठी की थी। उन्होंने लगभग तीन सौ मल्होरों का संग्रह किया। इस समय वे लंडन में कार्य कर रहे हैं और मेरे अनुरोध से अपना लेख वहीं से भेजा है।

कुरु जनपद का मल्होर गीत विशेष ध्यान देने योग्य है। लेखक ने इसके प्राचीन नाम 'गाहा' और 'पल्हाया' लिखे हैं जो उन्हें खोज में प्राप्त हुए। गाहा प्राचीन गाथा का प्राकृत रूप है। गाथाओं का उपयोग प्रायः वैदिक छन्दों से बाहर लोकगीतों के लिये किया जाता था। गाथा-गान करनेवाले गाथिन् कहलाते थे ( न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति, सभापर्व ३८।१७ )। शुनःशेप के आख्यान में सौ गाथाओं से अधिक थीं ( परऋक्शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम् )। बौद्ध जातक कहानियों में भी पद्यांश गाथा कहलाता है। सभापर्व के हंसोपाख्यान के अन्त में गाथा दी हुई है ( गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः, ३८।२९ )। प्राचीन गाथाओं की ही कुछ परम्परा मल्होर की गाहाओं में बच गई है।

मल्होर का दूसरा नाम 'पल्हाया' भी लोक में मिला है। यह संस्कृत 'प्रवल्हिका' का प्राकृत रूप है। अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त ( २०।१२७-१३६ ) खिल या परिशिष्ट कहे गए हैं। निश्चय ही इनमें संहिताकार ने लोकसाहित्य का संकलन किया है। संग्रह करनेवाले वेदव्यास स्वयं कुरु जनपद के थे और वहां के लोक साहित्य से भली-भांति परिचित थे। जब वे ऋषि परिवारों में प्रणीत विशिष्ट साहित्य का संग्रह कर चुके तो उनका ध्यान लोक में फैले हुए गानों पर भी गया जान पड़ता है। वे ही 'कुन्ताप' सूक्त हैं। उदर के भीतर बीस छोटी ग्रंथियों की संज्ञा कुंताप है। उसी की तरह छोटे फुटकर गीतों को जो लोक के उदर में भरे थे कुन्ताप कहा गया। ये गीत कई प्रकार के थे—ऐतश प्रलाप, प्रवल्हिका, आजिज्ञासेन्या ( जिसका शब्दार्थ ही बुझौव्वल है ), प्रतिराध, आहनस्या ( अश्लील गीत ) आदि हैं। प्रवल्हिका आदि गाथाओं के बोल प्रायः व्याख्या या उत्तर की अपेक्षा रखते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में 'ऐतश मुनि का प्रलाप' प्रवल्हिका कहा गया है। 'प्रवल्हिकाओं द्वारा देवों ने असुरों को भूलभुलैया में डाल दिया और स्वयं आगे निकल गए।' ऐतश प्रलाप के मंत्र (अथर्व २०।१२९-१३२) भी ऐसे ही ऊटपटांग हैं। ऐतश पागलों की सी तरंग में कहे जाते हैं—'कौन गोरी का, कौन काली का, कौन लाल का दूध ( पी गया ) ? इससे पूछो, कहां पूछो, जो पक्का हो उससे पूछो।' इस प्रकार के प्रलाप का गूढ़ अर्थ हुआ कि प्रकृति की 'लोहित शुक्ल कृष्णा' गउएं सत्व रज तम का दूध दे रही हैं। जो सीझा हुआ ज्ञानी हो, उससे इनका भेद जानो। मल्होरों को भी उनकी टेक में बावली कहा गया है। ऐतश प्रलाप का ठीक अनुवाद बावली मल्होर है। कुछ प्रवल्हिकाओं की विशेषता उनकी ऊपर से दिखाई पड़नेवाली अश्लीलता थी। उन्हें आहनस्या कहा गया है। ज्ञात होता है कि इन्हीं जैसी परम्परा जोगीड़े, फगुए और कबीरों में चली आई। अश्वमेध के

समय यजमान-पत्नी और अध्वर्यु का संवाद इसी शैली में है। कुछ मल्होरों पर भी इसका प्रभाव है।

कुछ वैदिक मंत्र प्रश्नोत्तर के ढंग के मिलते हैं जिसमें सवाल—जवाब के लिये दो दलों का होना आवश्यक था—

'ऐजी कौनसा वह वन था, ऐजी कौनसा वह पेड़ ? धरती और आकाश ऐजी, जिसमें से गढ छील दिए। सोचनेवालों, मनमें बूझो भुवन थे किससे टिके हुए ये।'

**किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
**मनीषिणो मनसा पृच्छते तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ (ऋ० १०।८१।४)**

मंगलाचरण की पहली मल्होर है—

प्रश्न—

ऐजी कौन जगत में एक है ?
बीरा कौन जगत में दोय ?
कौन जगत में जागता ?
ऐजी कोई कौन रह्या पड़ सोय ?

उत्तर—

ऐजी राम जगत्त में एक है,
बीरा चन्दा सूरज दोय।
पाप जगत में जागता,
एजी कोई धरम रह्या पड़ सोय॥

इस प्रश्नोत्तरी के बोल तो प्राचीन वैदिक गाथाओं के समकक्ष हैं—

**कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।**

फिर उसका उत्तर है—

**सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।**

कौन जगत् में जागता ? इसकी प्रतिध्वनि अथर्ववेद के 'कः सुप्तेषु जागर्ति' वाक्य में मिलती है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, और महाभारत में ऐसी कितनी ही प्रश्नोत्तरी शैली की गाथाएं हैं। मल्होर की गाहाएं उसी परम्परा की स्मारक हैं। एक एक मल्हार भावों का जडाऊ नगीना है, उसमें रस-ग्रहण का साक्षात् प्रयत्न लोक-मानस के द्वारा किया गया है। मल्होर शब्द की व्युत्पत्ति मल्ह धातु से है जिसका अर्थ है लीला, विलास, आनन्द करना। रानी मल्हना नाम इसी से बनता है; मल्हराना भी इसी का रूप है। पुष्पदन्त कृत महापुराण में मल्हण का अर्थ है 'मदयुक्त' (२६।४५।५)। मल्ह + पूर अथवा मल्ह + स्वर का रूप मल्होर बनेगा जिसका अर्थ होगा 'मद में भरा हुआ' या 'तरंग में

आकर कहा हुआ बोल'। ऐतश मुनि अपनी 'बावली शैली' में जब कहने लगे—'ऐजी, घोड़े सरपट दौड़े, उल्टे भागे, छानने वाले के आगे' [ एता अश्वा*आप्लवन्ते। प्रतीपं प्राति सुत्वनम् ।। अथर्व २०।१२६।१–२ ], तब उनके पुत्र ने सचमुच समझा कि बप्पा पगला गए हैं और हाथ से उनका मुंह बंद कर दिया। ऐतश ने कहा—'बचा, न रोकते तो तुम्हारी आयु हजार वर्ष की कर देता, क्योंकि 'अग्नि की आयु' का पता मुझे ही है।'

बावली मल्होर और ऐतश प्रलाप की साहित्यिक पृष्ठभूमि एक ही थी। और भी कई प्रमाण इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ( ६।३३ ) में ऐतश प्रलाप के उच्चारण के लिये कहा गया है कि एक एक चरण या पाद का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग करना चाहिए। मल्होरों का भी एक-एक चरण स्वतन्त्र है। यजुर्वेद ( २३।४५–६२ ) में प्रश्नोत्तर की शैली से कुछ प्राचीन वैदिक प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। उन्हें प्राचीन मल्होर ही कहा जा सकता है। 'रे मेरी बावली मल्होर' इसमें जो 'रे' पद है, वह भी इनमें से कुछ वैदिक मन्त्रों में मिलता है। 'ए' 'जी' और 'रे' से मिलते हुए 'ई' 'ईं अरे' और 'अरे' ये तीनों सम्बुद्धि वाचक अव्यय पाए जाते हैं। अध्वर्यु पूछता है—

ऐं रे कौन पीली है? ऐं रे कौन गहरी पीली है?
ऐं कौन फुदकता हुआ चलता है? ऐ कौन रास्ते पर लहरिया चलता है?

---

*ऐतश नाम वस्तुतः 'एता अश्वा' इस बावली बक के आद्याक्षरों से ही बना लिया गया है। इस प्रलाप का गूढ़ अर्थ यह है—इन्द्रियों के घोड़े सरपट दौड़ रहे हैं, लेकिन उलटी ओर दौड़ते हैं। सोम छाननेवाला आत्मा तो भीतर है, पर ये घोड़े उधर न जाकर बाहर की ओर भाग रहे हैं। ऐतशप्रलाप और प्रवह्लिका मन्त्रों में औरों के भी इसी प्रकार भीतरी बाहरी दो-दो अर्थ हैं। हमारी समझ में यही शैली बाद में सन्ध्या भाषा के रूप में विकसित हुई। धम्मपद के कई पदों में इसका प्रमाण मिलता है। 'मां-बाप को मारकर, दो राजाओं को मारकर, नौकर-चाकरों को मारकर, सब राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण पाप से छूटता है ( २१।५ )। उद्योग पर्व में एक जगह कहा है—'एक घर, उसके नौ द्वार, तीन खम्भे, पांच चौकीदार; घर का मालिक घर में बैठा; जो बूझै सो बड़का कवि' ( उद्योग ३३।८१ )। 'कूबड़वाला बैल, टांय टांय करनेवाला सुग्गा, मौजमजेवाला स्वर्ग, दुखनी आंख, मद चुआनेवाला कल्पवृक्ष, मटकता मोर, सतानेवाला घोर भैरव, मुंह का कद्दू—ये आठ जिसे बींध देते हैं, वह टें हो जाता है, या बौरा जाता है या बेहोश हो जाता है' ( उद्योग, ४१।३९–४० )। यहां काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मत्सर और अहंकार—इन आठों की ओर इशारा है। मृच्छकटिक में इस प्रकार की संध्या भाषा का उदाहरण है—'जिसने पांच पंच मारे, स्त्री मारी, गांव को बचाया, पर बेचारे चांडाल को मार डाला, वही स्वर्ग जायगा' अंक ८, श्लोक २ )। इस प्रकार के श्लेषवान् श्लोक को मृच्छकटिक में ही आगे चलकर 'धर्माक्षर' कहा गया है। बात यह कहनी है—पांच इन्द्रियाँ, अविद्या और अहंकार को मारकर शरीर को जिसने बचा लिया, वही स्वर्ग में जगह पायगा।

रे बकरी पीली है। सेही गहरी पीली है?
खरहा फुदकता और सोम लहरिया जाता है।

अश्वमेध कर्म काण्ड के अन्तर्गत 'कः स्विदेकाकी चरति' (यजुर्वेद २३।६,४५) इत्यादि १८ मन्त्रों को ब्रह्मोद्य कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म शब्द यहाँ यक्ष का वाचक है। अथर्ववेद (१०।२।२८–३३) के मन्त्रों में स्पष्ट रूप से अपराजिता पुरी में रहनेवाले ब्रह्म नामक यक्ष का उल्लेख है। अपराजिता पुरी को ही शान्तिपर्व (मोक्ष धर्म, १७१।५२) में अवध्य ब्रह्मपुर कहा गया है, जिसमें राजा (अर्थात् यक्ष) सुख से रहता है। केनोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म यक्ष रूप में प्रकट हुआ। इन प्रमाणों के आधार पर वैदिक ब्रह्मोद्य के लिये ही लोक में 'यक्षप्रश्न' यह शब्द प्रचलित था। वस्तुतः यक्षपूजा का आवश्यक अंग प्रश्नोत्तर या 'बूझना' है। यक्ष प्रश्नों का सबसे अच्छा साहित्यिक उदाहरण महाभारत के वनपर्व में यक्ष युधिष्ठिर संवाद (अ० २९७) है, जिसमें १८ श्लोकों में प्रश्न और १८ में ही उनके उत्तर हैं। प्रायः प्रत्येक श्लोक में मल्होर की तरह ही ४ प्रश्न हैं। स्वयं महाभारतकार ने इस अंश को प्रश्न-व्याकरण (प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि, २९७।११) कहा है। प्रश्नों की बुझौअल का यक्षों से घनिष्ट सम्बन्ध था। आज भी लोक में यक्ष या ब्रह्म किसी के सिर आने पर प्रश्न पूछने की प्रथा है। महाभारत के यह यक्ष प्रश्नोत्तरी और यजुर्वेद के ब्रह्मोद्य दोनों एक ही लोकसाहित्य के अंग थे, जहाँ से संहिताकार और महाभारतकार ने उनका संग्रह किया। इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि यजुर्वेद के प्रश्न और उत्तर के दो मन्त्र (२३।९–४५ और २३।१०,४६) ज्यों के त्यों महाभारत के यक्ष प्रश्नों में हैं। उदाहरण के लिये—

'कौन अकेला घूमता है? कौन पुनः पुनः जन्म लेता है?
जाड़े-पाले का इलाज क्या है? अरे बताओ भारी थैला कौन सा है?
सूर्य अकेला घूमता है, चन्द्रमा पुनः पुनः जन्म लेता है।
अग्नि जाड़े-पाले का इलाज है, अरे सुनो भूमि बड़ा थैला है।

अथवा

प्रश्न—'कौन भूमि से भारी है? कौन आकाश से ऊँचा है?
कौन वायु से शीघ्रतर है? कौन मनुष्यों से बली है?
उत्तर—'माता भूमि से भारी है, पिता आकाश से ऊँचा है।
मन वायु से शीघ्रतर है, चिन्ता मनुष्य से बली है।'
प्रश्न—ब्राह्मणों में देवपन क्या है? इनमें भलेमानुसों की बात कौन है?
इनमें मनुष्यपना क्या है? इनमें कौन सी बात पाजीपन की है?
उत्तर—स्वाध्याय इनका देवपना है, तप करते हैं,
यही भले आदमियों की बात है।

मर जाते हैं, यही इनका मनुष्यपन है,
जब झगड़ने लगते हैं, यही पाजीपन है।

इस प्रकार के प्रश्न और उनके उत्तर कुछ तो लोक के साधारण धरातल पर हैं, कुछ कुतूहल से भरे हुए वाक्चातुरी के उदाहरण हैं, और कुछ में थोड़ा ऊँचे उठकर वैदिक परिभाषाएँ भी ले ली गई हैं। जैसे—

सूर्य जैसा चमकीला तेज क्या है ? समुद्र जैसा सरोवर कौन सा है ?
पृथ्वी से विस्तृत क्या है ? किसकी नाप नहीं है ?

उत्तर—ब्रह्म सूर्य जैसी ज्योति है, आकाश समुद्र सा सरोवर है।
इन्द्र पृथ्वी से बड़ा है, गाय की नाप नहीं है।

प्रश्न—बताओ पृथ्वी का अन्त कहाँ है ? बताओ संसार का मध्य विन्दु कहाँ है ?
बताओ वृषाअश्व का रेत क्या है ? बताओ वाणी का सर्वोच्च स्थान क्या है ?

उत्तर—यही वेदी धरती का अन्त है। यह यज्ञ भुवन का मध्य विन्दु है।
सोम वृषा अश्व का रेत है। ब्रह्म वाणी का सर्वोच्च स्थान है।

एक मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकार के कुछ प्रश्न भुलावे में डालने के लिये भी पूछे जाते थे। जैसे—

प्रश्न—पुरुष कहाँ कहाँ प्रविष्ट हुआ है, ?
कौन कौन पुरुष में प्रविष्ट हुए हैं ?
ए जी ब्राह्मन् यह पहेली बूझता हूँ, उत्तर क्यों नहीं देते ?

उत्तर—पाँच के अन्तर में पुरुष प्रविष्ट हुआ है,
वे पुरुष में अर्पित हैं, यह मेरा उत्तर है।
समझ रख कि तू होशियारी में मुझसे बढ़कर नहीं।

वनपर्व के यक्षप्रश्नों के अन्त में फलश्रुति दी हुई है (२९८।२७–२८) जो इस बात का निश्चित संकेत है कि यह प्रकरण महाभारत का मौलिक अंग न था, कहीं से जोड़ा गया। जिस स्रोत से लिया गया, वह लोक-साहित्य ही हो सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि बाबली मल्होरों की शैली में कुरुजनपद के ऐतशप्रलाप, प्रवल्हिका आजिज्ञासेन्या, प्रश्नोत्तर आदि शैली के लोकसाहित्य की परम्परा छिपी है। उसके परिज्ञान के लिये मल्होरों का अधिक से अधिक संग्रह होना चाहिए।

# मल्हौर—( कुरुप्रदेश का एक गीत )

**गणेशदत्त गौड़**

कुरु-प्रदेश लोक—साहित्य का अनंत भण्डार है। कुरु-प्रदेश के ग्रामीणों का जीवन ही संगीतमय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि वहाँ लोक-कवियों की कमी नहीं तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकगीतों का स्वर गूँजता है। इस प्रदेश की उपजाऊ धरती सोना उगलती है। धरती के बेटे और बेटियाँ सभी उसकी सेवा में लगे रहते हैं। सारा लोकजीवन निरन्तर श्रमयज्ञ की एक यज्ञशाला है। जहाँ हमें हल जोतते हुए हाली, पानी लगाते हुए पनमेला, पारछे में चरसा खींचते हुए पारछी, खेत नलाते हुए नलैया, कोल्हू पर काम करते हुए जोटिया[1], मूठिया[2], झोका[3] तथा गुड़ैया[4], ईख छीलते हुए छोला, खेत काटते हुए लावा, परोहे डालते हुए बोकिया तथा ढोर चराते हुए पाली दिखाई देते हैं, वहाँ खेतों को भोजन ले जाती हुई, जंगल ( खेत ) से न्यार[5] लाती हुई, सिला बीनती हुई, कपास चुनती हुई, धाम की पौध लगाती हुई तथा पानी खींचती और ले जाती हुई ग्रामीण नारियाँ श्रम-रत दिखाई देती हैं। चारों ओर एक समाँ बँधा रहता है। ऐसे वातावरण में श्रम-गीतों का जन्म होना स्वाभाविक है। क्योंकि जब हाथ, पैर, मन और हृदय एक गति में होते हैं तो उस लय से संगीत का जन्म होता है। फिर वही संगीत अपनी लय, तथा माधुरी से कार्य की गति में तीव्रता लाता है। श्रमोत्पन्न थकावट धीरे-धीरे इस संगीत के प्रभाव से विलीन हो जाती है और कार्य करनेवालों में ताज़गी का संचार होता है। दूसरे इन श्रमगीतों से हृदय की आकांक्षाएँ, वेदनाएँ तथा प्रसन्नता बाहर निकल आती हैं। इससे एक उल्लास उत्पन्न हो उठता है।

कुरु प्रदेश के श्रमगीतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

(अ) पुरुष वर्ग के गीत—

(१) 'मल्हौर' या 'पल्हाये'—( कोल्हू के गीत )
(२) 'बाढ़े' ( चरसा खींचने के गीत )
(३) रत्ते ( हालियों के गीत )
(४) भोले की बम ( तीर्थयात्रा के गीत )

---

१. जोटिया—बैलों की जोट हाँकनेवाला, जो कोल्हू का पाट खींचती हैं।
२. मूठिया—जो कोल्हू में गन्ने लगाता है।
३. झोका—जो भट्ठी में झोक डालता है।
४. गुड़ैया—जो गुड़ बनाता है।
५. न्यार—चारा।

(५) पालियों के गीत ।
(६) घोबियों के गीत ।
(७) सड़क कूटने या एक साथ बड़ा बोझा उठाने के गीत ।
(८) विविध ।

(आ) स्त्री वर्ग के गीत —
(१) ढोला—( बोझ ले जाते तथा कहीं जाते समय गाने के गीत )
(२) चक्की पीसने के गीत
(३) पानी भरने या पनघट के गीत
(४) तीर्थयात्रा के गीत
(५) धान रोपने के गीत
(६) विविध

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त बहुत से गीत ऐसे हैं जो कोई भी कार्य करते समय गाए जा सकते हैं। कुरु प्रदेश का किसान बाँगरू के प्रसिद्ध लोककवियों ( लखमी, दीपचन्द, मांगेराम आदि ) की रागनियाँ गुनगुनाते हुए काम में लग जाता है। इन रागनियों में एक विशेष प्रकार की मस्ती है जो हृदय को गुदगुदाती है। इन श्रमगीतों का परिचय किसी दूसरे स्थान पर दिया जायगा। प्रस्तुत लेख 'मल्होर' का परिचय देने का प्रयत्न है।

'मल्होर' या 'पल्हाया' नामक श्रमगीत सभी लोक-गीतों का सरदार समझा जाता है। इसे कोल्हू पर काम करते समय गाते हैं। कुरु प्रदेश में ईख की उपज बहुतायत से होती है। किसान बैलों के द्वारा खींचे जानेवाले कोल्हू से गन्ना पेर कर उसके रस से गुड़, शक्कर तथा राब बनाते हैं। कार्तिक के महीने से ही गाँव से कुछ दूर झोपड़ियों की एक नई दुनिया बस जाती है। वहाँ सहकारिता के आधार पर कोल्हू गाड़ा जाता है। सभी बारी बारी से अपनी ईख पेलते हैं। बैलों की जोट भी इस क्रम से बदली जाती हैं। कोल्हू की इन नई बस्तियों का वातावरण अपूर्व होता है। झोका, मूठिया, गुड़या आदि की नियुक्ति भी अदला-बदली के आधार पर की जाती है। तथा वहीं उनके आवास का प्रबन्ध होता है। दिन में यह बस्ती प्रायः सूनी पड़ी रहती है, सभी ईख छीलने छोल में चले जाते हैं। दोपहर के बाद गन्नों की गड्डियाँ आनी आरम्भ हो जाती हैं। झोका अपना ढिंका[1], बेड़[2] और कलेरनी[3] सँभालता है और फिर झोक के लिये निकल जाता है। जोटों का क्रम जारी होता है। दस-ग्यारह बजे तक तो अन्य ग्रामीण भी इस नई बस्ती का आनन्द लूटते तथा धूँधवा पर तापते रहते हैं। ग्रामीण राजनीति पर चर्चा चलती है। पर आधी रात के आस-पास तो केवल कोल्हू के कामकाजी ही रह जाते हैं। ठंडी रात, सोती हुई प्रकृति का नीरव वातावरण, गुड़ की कड़ाही से उठती हुई सौंधी भाप, ऐसे मधुर वातावरण में 'मल्होर' का जन्म होता है।

(१) ढिंका—पंजानुमा, कोई इकट्ठा करने का लकड़ी का बना यन्त्र।
(२) बेड़—पाती बाँधने की रस्सी—पाती-गन्ने की सूखी पत्ती को कहते हैं।
(३) कलेरनी—कड़छा जिससे राब निकाली जाती है।

जोटिया, या मूठिया में से कोई 'मल्होर' गाना प्रारम्भ करता है। उसका स्वर छिड़ते ही आस-पास की अन्य ऐसी ही बस्तियों में से इसकी प्रतिक्रिया होती है। बारी-बारी से गान के स्वर उठते हैं तथा परस्पर टोलियों में प्रश्नोत्तर होते रहते हैं। इन प्रश्नोत्तरों की झड़ी प्रातःकाल तक लगी रहती है।

यह गीत बड़ा प्राचीन बताया जाता है। **पहले इसे कुछ भागों में 'गाहा' भी कहा जाता था,** क्योंकि इस गीत के माध्यम से छोटे-छोटे कथानक गाए जाते थे। इस प्रदेश के ग्रामीणों का सामाजिक-दर्शन, उनके शृंगारिक भाव तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण हमें मल्होरों में विभिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। इन मल्होरों में अभिव्यक्त भावधारा का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता लगता है कि कबीर की साखी, बिहारी के शृंगारिक दोहे, हाल की सप्तशती की गाथा, तथा तुलसी, वृन्द एवं रहीम के दोहों से इनका घनिष्ठ संबंध है। बहुत प्राचीन होने के कारण यह श्रमगीत समय के अनुसार चलता रहा। यह सम्भव है कि कबीर और तुलसी जैसे लोक-नायकों ने इसकी लोकप्रियता का अनुभव किया हो। शृंगारिक मल्होरों और बिहारी के दोहों में कहीं-कहीं काफ़ी समानता मिलती है। तथा कबीर की साखियों और वैराग्यपूर्ण मल्होरों में बड़ी घनिष्ठता का अनुभव होता है। दोनों के भाव एक से प्रतीत होते हैं।

संक्षेप में मल्होर की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(१)—प्रत्येक मल्होर दोहे जैसे छन्द में होती है। पर उसमें स्वर के उतार चढ़ाव के कारण मात्राएँ घट बढ़ जाती हैं।

(२)—अधिकांश मल्होरें जोड़े में होती हैं। प्रश्नोत्तर का क्रम लम्बा भी हो सकता है विशेषकर उस स्थिति में जहाँ कोई लघु कथा कही जा रही हो।

(३)—प्रत्येक मल्होर के पीछे एक टेक का होना आवश्यक है। यह टेक 'रे मेरी बावली मल्होर' होती है। सहारनपुर के कुछ ग्रामों में 'रे मेरा धौलिया रे' भी होती है।

(४)— मल्होरों में विभिन्न भावों का समावेश होता है। वे किसी भी भाव की अभिव्यक्ति कर सकती हैं। पर शृंगारिक और वैराग्यपूर्ण मल्होरों की प्रचुरता है।

'पल्हाये' मारनेवाला व्यक्ति पहले 'पल्हाए' (मल्होर) में अपने ग्रामदेवता (भुमिया) की स्तुति करता है। यह सबसे पहली मल्होर इस प्रकार है:—

**धन खेड़े, धन भूमियाँ रे,**
**( कोई ) धन्न बसावण हार।**
**धन खेड़े के चौधरो रे,**
**तेरा खेड़ा बसै गुलजार रे।**
**रे मेरी बावली मल्होर ॥१॥**

ग्राम, ग्रामदेवता, गाँव का बसानेवाला, गाँव का चौधरी—इन चारों को प्रणाम करके तथा स्तुति के पश्चात् वह यही कामना करता है कि ग्रामीणों का जीवन सुख और आनन्द से

पूर्ण हो। इसी प्रकार का मंगलाचरण होली के गीतों में मिलता है। जलती हुई होली के चारों ओर परिक्रमा लगाते समय गाया जानेवाला गीत भी इसी प्रकार का होता है।

इस मंगलाचरण के पश्चात् एक जोड़ा कहा जाता है यह प्रश्नोत्तर के रूप में है—

**ऐजी कौन जगत मे एक है,**
**बीरा कौन जगत में दोय।**
**कौन जगत में जागता,**
**ऐजी कोई कौन रह्या पड़ सोय। रे मेरी बावली मल्होर ॥२॥**

दूसरे कोल्हू से उतर आता है:—

**ऐजी राम जगत मे एक है,**
**बीरा चन्दा सूरज दोय।**
**पाप जगत में जागता,**
**ऐजी कोई धरम रह्या पड़ सोय रे मेरी बावली मल्होर ॥३॥**

इस मल्होर में ग्रामीण दर्शन का कुछ परिचय मिलता है। किसान यह भी अनुभव करता है कि आज कितनी विषमता है कि चारों ओर अनाचार और शोषण छाया हुआ है। किसी गहरी नींद में सत्व गुण सो रहा है जिसके कारण सत्यता, ईमानदारी आदि महान् गुण लुप्त होते जा रहे हैं। उत्पीड़न, शोषण, अत्याचार की लम्बी कहानी को वह पाप के नाम से अभिहित करता है। मितभाषी किसान अपने विचार छोटे-छोटे सूत्रों में रखता है जिसमें उसकी अनुभूति सिमट कर छिपी रहती है। चन्दा, सूरज और राम को ही वह नित्य मानता है। लोक-जीवन में शान्त रूप से बहती हुई अध्यात्म और धर्म की यह प्रच्छन्न धारा ही उसके सामाजिक आदर्शों को जन्म देती है।

मल्होरों का प्रमुख विषय शृंगार है पर वैराग्य तथा नैतिक एवं सामाजिक आदर्श प्रकट करनेवाली मल्होरों की संख्या भी कम नहीं है। शृंगार की अभिव्यक्ति प्रायः लघु कथाओं में हुई है। इन लघु कथाओं के मार्मिक स्थलों की ही मल्होर होती हैं, शेष कथा तो प्रायः सभी ग्रामीण जानते हैं। पहिले हम दार्शनिक पक्ष के मल्होरों की चर्चा करेंगे जो कि कबीर की साखियों का स्मरण दिलाती हैं। ऐसी मल्होरों में संसार की घटनाओं को देखकर मनुष्य अपने जीवन और उसके पार की बातें सोचता दिखाया गया है यही बात बड़े सुन्दर ढँग से इस मल्होर में व्यक्त की गई है:—

**कित बोए कित ऊबजे रे**
**बीरा कहाँ लडाये लाड़।**
**ऐजी कुदरत का ब्यौरा नहीं,**
**कोई कहां खिंडादे[१] हाड़। रे मेरी बावली मल्होर ॥४॥**

---

१ खिंडादे—बखेरदे—[ खिंडाना=बखेरना ]

'कहाँ गर्भ में आए, कहाँ जन्मे, कहाँ लालन-पालन हुआ, कहाँ बड़े हुए और कहाँ इस शरीर की हड्डियाँ भगवान् बखेरेगा, कौन जाने। इस परिवर्तनशील संसार में, जिसके विषय में हमें ज्ञात नहीं, आना जाना लगा रहता है। जाते समय हृदय में उस पत्ते जैसी भावना उत्पन्न होती है जो अपने पेड़ से टूट गया है। वायु उसे किस अज्ञात स्थान में लेकर डालेगी वह नहीं जानता, उसके हृदय में मोह है, दुख हैः—

पत्ता टूट्या डालते रे,
बीरा कोई ले गई पवन उड़ाय।
ऐजी अब के बिछड़े कद मिलें,
कहीं दूर पड़ेंगे जाय। रे मेरी बावली मल्होर ॥५॥

उसी पीपल के पेड़ पर लगी पीपली, पत्ते के मोह पर उसे समझाती है क्योंकि वह जानती है कि इस बिछुड़न पर दुख कैसा? यह क्रम तो बराबर चलता रहता है फिर पीड़ा कैसी? पीपली का उत्तर देखिए—

पीले मुँह की पीपली रे,
बीरा कर रई हँस हँस ज्वाब।
हम आए तम चल पड़े,
ऐजी हाँ अपनी अपनी बार। रे मेरी बावली मल्होर ॥६॥

पीपली के उत्तर और कबीर की इस साखी में कितना साम्य है—

माली आवत देखकर, कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए, कल्ह हमारी बार।

जिस प्रकार कबीर कामिनी को साधन में बाधक समझते थे और उसे 'नागन ते नारी बुरी' कहते थे उसी प्रकार की भावना इस मल्होर में मिलती है, देखिए—

ऊटनूँ चर लिए झोझड़ रे,
बीरा कोई भैसूँ नूँ चर लिए दाब।
गोरी नूँ चर लिए गाबरू,
ऐजी कोई जिनकी टेढ़ी पाग। रे मेरी बावली मल्होर ॥७॥

'जिस प्रकार ऊँटों ने झोझड़ (एक पौधा) और भैंसों ने दाब (जंगल) चर लिए उसी प्रकार बड़े बड़े बलशाली तथा वीर युवक 'गोरी' के कारण मिट गए।' यहाँ टेढ़ी पाग उन 'गाबरू' युवकों की वीरता, शक्ति तथा बल की परिचायक है। अभिव्यक्ति में कितनी स्वाभाविकता, सत्यता और गहराई है। झोझड़ और दाब के चरने में ऊँट और भैंस को कठिनाई नहीं होती और न वह उनकी कोई परवाह ही करते हैं। यही बात गोरी और गाबरू के प्रसंग में कितनी सत्य उतरती है। 'गोरी' सम्बन्धी ऐसी अनेक मल्होरें प्राप्त होती हैं।

शृंगार सम्बन्धी मल्होरों पर दृष्टिपात करने से एक ऐसी विशेषता उनमें मिलती है, जो हमें अन्यत्र नहीं मिलती। साहित्य में शृंगार की दो ही दशाएँ हैं—संयोग तथा वियोग। परन्तु मल्होरों में एक तीसरी दशा का चित्रण है, जिसे न संयोग ही कह सकते हैं और न वियोग ही। जो संयोग होते हुए भी वियोग से अधिक तीक्ष्ण, कष्टदायक तथा वेदनापूर्ण है और यह तीसरी दशा है 'बाल-पति'वाली पत्नियों की, जो सुहागिनी और संयोगिनी होती हुई भी वियोगिनी और विरहिणी के समान हैं। ऐसी स्थिति इन पंक्तियों से कितना साम्य रखती है:—

कभी न हँस कै कुच गहे, कभी न रिस कै केस।
ऐसे ही बालम घर रहे, ऐसे ही रहे बिदेस॥

पहिले हम शृंगार के इसी पक्ष को लेंगे। फिर संयोग तथा वियोग सम्बन्धी मल्होरों पर विचार करेंगे।

कुरु प्रदेश में प्रायः बाल विवाह की प्रथा है। गूजर, चौहान तथा दलित जातियों में बहुत सी युवती पत्नियों के पति बालक होते हैं! ऐसी स्त्रियों को जीवन भर रोना रहता है। उनका यौवन, सौन्दर्य एवं शृंगार व्यर्थ ही मुरझा जाता है। किसी सुन्दरी को अनमनी देखकर किसी के हृदय में यही प्रश्न उठते हैं:—

कैसे धन ठाढ़ी अनमनी रे
और कैसे मैलौ भेस।
क तेरी सासू करकसा
ऐजी कै बाले भरतार। रे मेरी बावली मल्होर॥८॥

'ऐ सुन्दरी कैसे अनमनी हो और कैसे मैला वेष है! (मालूम होता है) या तो तेरी सास कर्कशा है या तेरा पति बालक है।'

एक मल्होर देखिए जिसमें ऐसी दुखिया को दशा का चित्र बड़े मार्मिक शब्दों में किया गया है:—

रतन कटोरी[1] घी जलै रे
बीरा कोई चूल्हे जलै रे कसार[2]
घूंघट में गोरी जलै
जाके यान्ने[3] हों भरतार। रे मेरी बावली मल्होर॥६॥

---

१—रतनकटोरी—एक छोटी सी पीतल की कटोरी होती है जिसमें देवताओं को धूप देने के लिये घी में रुई की बत्ती खड़ी करके जलाई जाती है।

२—कसार—गेहूँ के आटे को भून कर बनाया गया पदार्थ जो प्रायः गुँझियों में भरा जाता है।

३—यान्ने—बालक [ सं० अज्ञान—अग्यान—अयान।—याना।—संपादक ]

'जिस प्रकार रतन कटोरी में घी धीरे धीरे जलता है, और जिस प्रकार कसार चूल्हे पर धीरे धीरे भुनती रहती है, उसी प्रकार वह सुन्दरी अपने घूंघट के अन्दर ही जलती रहती है; जिसका पति बालक होता है।' कटोरी के घी का जलना जैसे हम देख नहीं पाते और जैसे कसार के जलने का अनुभव एक साथ नहीं होता वह धीरे धीरे लाली धारण करती जाया करती है वैसे ही वह गोरी भी अन्दर ही अन्दर भुरमती रहती है। समाज उसके जलने व भुरमने का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाता। उसकी उमंगें और यौवन की तरंगें समाज की बलि-वेदी पर उसी प्रकार जल कर भस्म हो जाती हैं जिस प्रकार रतन कटोरी का घी देवता की पूजा में धीरे धीरे जल जाता है।

ऐसी सुन्दरी के लिये तो जीवन के सब सुख—घर, द्वार आदि सभी बुरे लगते हैं। उसके लिये तो घर, द्वार, सारा संसार ही जलता हुआ प्रतीत होता है। आगे की मल्होर में देखिए:—

**महल जले मांढ़ी जले**
**बीरा बिच बिच जले दलान**
**घूंघट में गोरी जले**
**जिसके कन्त नदान। रे मेरी बावली मल्होर ॥१०॥**

ऐसी मानसिक व्यथा का भार ढोते हुए भी वह मौन रहती है। वह इस सब वेदना को हृदय में छिपाए जीती है, काम करती है, हँसती है। पर उसका यन्त्रवत्-जीवन जो एक दैनिक क्रम की भांति चलता रहता है, किसी बड़े अभाव के कारण नीरस बना रहता है। कभी अवकाश और एकान्त के क्षणों में उसकी पीड़ा उसके हृदय से बाहर निकल पड़ती है और उसके जीवन को भकभोर देती है। ऐसे ही एकांत के क्षणों में एक पनिहारी कुएँ पर खड़ी है, अकेली, अपनी वेदना और पीड़ा के कारण खोई सी। आगे की मल्होर में उसकी विचित्र अवस्था देखिए। कुएँ में डोल फाँस रक्खा है, न उसे डुबाती ही है न खींचती ही है; उदास, मौन, जड़ व विस्मृत सी खड़ी है। एक पथिक उस कुएँ को सम्बोधित करके पूछता है:—

**ऐरे कुएँ तेरी मेंड पै रे**
**कूँण खड़ी पँणहार**
**कै तो इसकी नेज्जू[1] ओच्छी[2]**
**कै कुएँ में गार[3]। रे मेरी बावली मल्होर ॥११॥**

उसके इस प्रश्न का उत्तर उसके मुँह से अनायास ही निकल पड़ता है:—

**ना नेज्जू ओच्छी मेरी रे**
**कोई ना कूएँ में गार।**

---

१—रस्सी २—छोटी ३—कीचड़

ऐजी मेरा याञा बालमा
मैं जीऊ किसके धार। रे मेरी बावली मल्होर ।।१२।।

कहने से दुख हल्का हो जाता है, आह निकलने से क्षणिक शान्ति मिल जाती है। वह अनुभव करती है कि उसका जीना निरर्थक है, वह किसके लिये जीए, किसके लिये हँसे। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कुरु प्रदेश के स्त्री-समाज के गीतों में वह वेदना विभिन्न प्रकार से व्यक्त हुई है। लेखक ने सहारनपुर जिले में दलित वर्ग की स्त्रियों को धान रोपते समय इसी विषय के गीत गाते सुना था। उनके गान में करुणा थी, वेदना थी और गानेवालियों की आँखें सजल थीं। एक गीत की पहली पंक्ति देखिए—

'जिद मैंने जन्म दिया री मेरी माय
छोटे बालम करमाँ में लिखे री मेरी माय।'

इस प्रकार की शिकायत झुँझलाहट में निकल ही पड़ती है। मल्होरों की एक लम्बी लड़ी में एक प्रसंग इसी प्रकार का आता है। बाल-पतिवाली पत्नी को उसकी सास और नन्द समझाती हैं कि वह अपने बाल-पति के युवक होने की प्रतीक्षा करे, दुखी होने की क्या आवश्यकता है। इसपर उसकी भावनाएँ फूट पड़ती हैं, वह धैर्य कैसे धारण करे। यौवन तो अस्थायी है, मुरझा जानेवाला है, इस मल्होर में उसका उत्तर देखिए—

धीर बान्धूँ ? चीर पाटूँ
मेरा कालेजा कुम्हलाय
सावन के सी लोरियाँ
मेरा जोब्बन उमड़ा जाय। रे मेरी बावली मल्होर ।।१३।।

जिस प्रकार सावन में वर्षा के कारण जल में हिलोरें उठती हैं उसी प्रकार यौवन उमड़ा जा रहा है और उसके उमड़ने से उसकी कंचुकी फटी जा रही है। पर बाल पति को देखकर उसका कलेजा कुम्हला जाता है। वह धीरज कैसे धारण करे ? और प्रतीक्षा करने की उसमें शक्ति कहाँ ?

इस प्रकार की मल्होरों का भंडार सारा कुरु प्रदेश है, विशेषकर गुजरौट या गूजरों का प्रदेश। हृदय की आहों और आँसुओं की लड़ियों से लदी इन मल्होरों को सुनकर श्रोता की आँखें गीली हो जाती हैं और हृदय करुणा से भर उठता है। स्थानाभाव के कारण उन सभी मल्होरों का यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं। यह तो अकेला ही एक ऐसा प्रसंग है जिस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है।

यौवन सम्बन्धी भी बहुत सी मल्होरे हैं, जिनमें शृंगार के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। वयःसन्धि सम्बन्धी एक मल्होर देखिए जिसमें विद्यापति की नायिका की भांति ही वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों के विकास को आश्चर्य की दृष्टि से देखती है:—

आँगी पै के काँकड़े रे
तैंने लाडूँ तोड़ मरोड़।
पोस्त बरगी[1] डोंडिया
मेरी लिकड़ी[2] छाती फोड़। रे मेरी बावली मल्होर ॥१४॥

इस मल्होर की भांति अन्य वय:सन्धि सम्बन्धी अभिव्यक्ति विभिन्न मल्हारों में प्राप्त होती है। यौवन आया, अपने साथ नई उमंगें व इच्छाएँ लेकर। पर वह सब कुछ तो जीवन में आनेवाले किसी की धरोहर है, जिसको भारतीय बाला उसके लिये यत्न से सँजोकर रखती है और उसके आते ही उसके सामने अपना जीवन, यौवन सब कुछ समर्पित कर देती है। आगे की मल्होर में एक नव-विवाहिता की यौवन सम्बन्धी उक्ति सुनिए:—

जोब्बण तेरे लड्डू करूँ रे
कोई रस की राँधूँ खीर।
एजी न्यौत जिमाऊ बालमा
मेरी सगी नणद का बीर। रे मेरी बावली मल्होर ॥१५॥

लड्डू और रस की खीर ग्रामीण स्त्री के लिये सर्वश्रेष्ठ खाद्य पदार्थ हैं और यौवन के प्रतीक भी हैं। इस उक्ति में आत्मसमर्पण, उत्कट प्रेम, पातिव्रत धर्म फूट रहा है। कितने भोले ढंग से इतनी बड़ी बात कह दी गई, यही मल्होरों की विशेषता है।

पर यौवन तो स्थायी नहीं रहता। उसके जाने पर जीवन सूना हो जाता है। इस प्रकार के भावों को प्रकट करने वाली आठ मल्होरों का एक गुच्छा सारे कुरुप्रदेश में प्रचलित है उसमें की दो मल्होरें देखिए। यौवन के चले जाने पर रूप और मान दोनों ही चले जाते हैं। इस यौवन रत्न को खोकर बाला 'निमाणी' हो जाती है—

जोब्बण था जिब रूप था रे
कोई गाहक था सब कोय
बाल्ला रतण गमाय कै
एजी कोई रही निमाणी होय। रे मेरी बावली मल्होर ॥१६॥

पर यौवन को रोक लेना भी क्या कोई बस की बात थी। ऊपर की उक्ति का उत्तर देखिए:—

जोब्बण चाल्ला रूस कै, रे
कोई पड़ गया लम्बे राह।
कैस्से पकड़्यूँ भाग कै रे
मेरे गोड्यों में दम नाह। रे मेरी बावली मल्होर ॥१७॥

---

१—तुल्य, समान। २—लिकड़ी—निकली।

यौवन रूँठकर तेज चल दिया और उसे भाग कर पकड़ने का प्रयत्न किया तो टांगों ने जवाब दे दिया। यौवन अपने साथ शक्ति भी ले जाता है। इस मल्होर का साहित्यिक सौन्दर्य अनुपम है।

वियोग शृंगार की मल्होरें बड़ी तीक्ष्ण हैं, उनमें वेदना और पीड़ा साकार हो उठी है। वियोग शृंगार सम्बन्धी मल्होरें वास्तव में हमारे हृदय के मर्मस्थल को छू लेती हैं। इनमें व्यक्त भावों पर लोक जीवन व परिस्थितियों की छाप है। उन्हें सुनकर या पढ़कर हमारा उन परिस्थितियों से भी साक्षात्कार हो जाता है जिनमें इन मल्होरों का जन्म हुआ। वियोग शृंगार की बहुत सी मल्होरों का विषय ढोला और मारू का वियोग है। विरह सम्बन्धी एक मल्होर देखिए जिसमें मरमन की दशा का मार्मिक चित्रण थोड़े से शब्दों में ही कर दिया गया है—

**कल्लड़ सुक्खी काँगनी रे,**
**कोई डहरों सुक्खे धान।**
**मरमन सुक्खी बाप कै,**
**ऐजी कोई केला गोभ समान। रे मेरी बावली मल्होर ॥१८॥**

'जिस प्रकार जलहीन कल्लड़ (ऊसर) में काँगनी सूखे जाती है और सूखे डहर (तालाबों) में धान सूख जाते हैं इसी प्रकार केले की गोभ ( अंकुर ) के समान कोमलांगी मरमन अपने पीहर में सूख रही है क्योंकि वह भी पतिप्रेम रूपी जल से वंचित है। कंगनी और धान के पौधे बड़े कोमल होते हैं; जल के थोड़े अभाव से ही वे सूख जाते हैं। इनकी तुलना मरमन के साथ करके लोककवि ने इस मल्होर में अति सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

किसी बाल पत्नी का पति सेना में है। वर्षों के लम्बे वियोग को सहने में तब तक उसे कोई कठिनाई नहीं हुई जब तक कि वह पूर्ण यौवन में नहीं आई थी। पूर्ण यौवना होते ही उसे यह भयंकर वियोग-पीड़ा पहुँचाने लगा। यौवन के आगमन से उसके शरीर में विशेष आभा आ गई है, रसभरी उमंगों से हृदय भर गया है। शरीर में यौवन का निवास उसी प्रकार है जैसे किसी कोठी में कसूम भरी हो, पर उस कोठी पर ढक्कन लगा है, सामाजिक प्रतिबन्ध, पति की अनुपस्थिति का। उसकी आह भरी यह उक्ति देखिए :—

**कोठी भरी कसूम की रे**
**कोई करें लगे पिहान।**
**खोलन वाला है नहीं**
**कोई देवरिया नादान। रे मेरी बावली मल्होर ॥१६॥**

'यौवनरूपी लाल कसूम शरीर की कोठी में भरा है। कोठी का खोलनेवाला दूर है। और दूसरी आशा भी दुराशा है, क्योंकि देवर भी अभी बालक है।' 'देवरिया नादान' में से एक गहरा चीत्कार सा निकल रहा है। जब परदेशी पति नहीं आया तो धीरे धीरे यौवन मुरझाने लगता है : जीवन वीणा के तार टूट जाते हैं उनमें से वह मस्ती भरा आनन्द और उमंग का स्वर

नहीं निकलता। वीणा क्या करे जब बजानेवाला ही नहीं आया। आगे की मल्होर में देखिए:—

टूट फूटगी बीनड़ी रे
बीरा कोई टूट फूटगे तार
बीन बिचारी के करै।
जब गए बजावण हार। रे मेरी बावली मल्होर ॥२०॥

इस मल्होर में निराशा और विवशता का करुणा चित्र है। जीवन साथी के बिना जीवन वीणा कैसे बजे ?

श्रावण मास कुरु प्रदेश में पत्नियों के लिये आनन्द का मास होता है। वर्षा की फुहार, हरी-भरी प्रकृति देखकर यौवन की उमंगें बाहर आ जाती हैं और सारे वर्ष भर पति की प्रतीक्षा करनेवाली पत्नी भी श्रावण में आशा से फूल उठती है। यह मिलन मास है। परदेश जाते समय पति अपनी पत्नियों से यही कहकर जाते हैं कि श्रावण में अवश्य लौट आएँगे। इसीलिए विरहिणी श्रावण की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करती है। परन्तु यदि श्रावण में भी पति नहीं लौटता तो सारी आशाएँ और अरमान मिट जाते हैं। किस बेचैनी, उत्सुकता और आशा से दिन गिने थे ? विरह की यह मल्होर देखिए:—

साम्मण आम्मण कह गया रे
ऐजी कोई कर गया कौल अनेक
गिनते गिनते घस गईं
म्हारी आँगलियाँ की रेख। रे मेरी बावली मल्होर ॥२१॥

'दिन गिनते गिनते उंगलियों की रेखाएँ भी घिस गईं; पर फिर भी वह न आया।' ठीक यही भाव हेमचन्द्र की एक अपभ्रंश कविता में मिलता है: —

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण ॥

अपभ्रंश के कवि जनकवि थे। उन्होंने जन-साधारण की भावनाओं की अभिव्यक्ति अपने काव्य में की। उनका लोकगीतों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

सावन सम्बन्धी एक और मल्होर देखिए:—

साम्मण आम्मण कह गया रे
कोई बित्ते बारह मास
छपर पुराने पड़ गए जी
कोई चटकन लाग्गे बांस। रे मेरी बावली मल्होर ॥२२॥

'पुराने छप्पर, चटकते हुए पुराने बांसों को देखकर विरहणी की वेदना और गहरी हो जाती है और प्रियतम का अभाव और अधिक खटकता है। यह मल्होर जायसी के विरह वर्णन का स्मरण कराती है।

इसी प्रकार प्रियतम के लगाए हुए पेड़ों को देखकर अधिक दुखी होना तथा उसके बैलों और गायों के रम्भाने में उनका भी दुख देखना आदि भावों की व्यंजना मल्होरों में बहुत हुई है। अन्त में शृंगार सम्बन्धी एक मल्होर लिख यह प्रसंग समाप्त करेंगे।

विरहिणी को अनायास सूचना मिलती है कि उसका प्रियतम मार्ग में आ रहा है। वह उत्सुकता और आनन्द से फूल उठती है। जहाँ वह बारह मास प्रतीक्षा कर सकी थी वहाँ कुछ क्षण ठहरना भी उसे बड़ा कठिन प्रतीत होता है। वह चाहती है कि तुरन्त अपने पति को देखे। पर देखे कैसे, वह तो दूर है। मन मसोस कर रह जाती है और कहती है:—

**जो मैं ऐसा जानती रे**
**आँगन बोती खजूर**
**वाप्पै चढ़कै देखती।**
**मेरा साज्जण कितनी दूर। रे मेरी बावली मल्होर।।२३।।**

उसकी यह कल्पना कितनी मधुर, भोली तथा स्वाभाविक है।

संयोग-वियोग शृंगार के अतिरिक्त सौन्दर्य वर्णन की मल्होरों में भी अभिव्यक्ति की कुशलता, चित्रात्मकता, भाव को गहरा बनानेवाले अलंकार तथा भावों की निश्छल और स्वाभाविक व्यंजना मिलती है। कथात्मक मल्होरों के सम्बन्ध में भी स्थानाभाव के कारण यहाँ अधिक लिखना सम्भव नहीं है। उनके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि कुरु प्रदेश के लोक-जीवन में व्याप्त 'हीरा-राँझा, बींझा-सोरठ, ढोला-मारू, पूरनमल, रूप-बसन्त' आदि कथाएँ इनका आधार हैं।

अन्य लघु कथाएँ दैनिक जीवन की छोटी छोटी घटनाएँ हैं, जिनके मार्मिक स्थलों की मल्होरें बन जाती हैं। प्रस्तुत लेख में ऐसी लघुकथात्मक मल्होरों की लड़ियों में से भी कुछ मल्होरें छांट ली गई हैं। मल्होरों में व्यक्त सामान्य उक्तियों का भी भण्डार मिलता है। विभिन्न प्रकार की उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इनके विषय में तो एक अलग ग्रंथ की रचना हो सकती है। बानगी के लिये दो मल्होरें देखिए—

**देवों में देव्वी बड़ी रे,**
**कोई धन में धौली गाय।**
**लत्तान में कमली बड़ी**
**ये धोबी कै ना जाय। रे मेरी बावली मल्होर ।।२४।।**

**साम्मण प्यारी तथा भैंस रे**
**कोई रण प्यारी तलवार।**

भाई प्यार जिब लगे;
कोई दुस्मन आ जाय बार। रे मेरी बावली मल्होर ।।२५।।

धीरे धीरे मशीन ग्रामीण जीवन की ओर बढ़ती जा रही है। ग्रामीण उद्योग-धन्धों, रहन-सहन तथा जीवन में धीरे धीरे परिवर्तन आता जा रहा है। नगर संस्कृति के आक्रमण से जहाँ लोक-संस्कृति के पैर उखड़ने प्रारम्भ हो गए हैं वहाँ चीनी की मिलों के कारण मल्होर का स्वर भी फीका पड़ता जा रहा है। कुरु प्रदेश में मिलों के क्षेत्रों के गांवों में कोल्हुओं की वे बस्तियाँ उजड़ रही हैं, जहाँ मल्होरों का स्वर गूँजा करता था, जहाँ आग के चारों ओर बैठकर ग्रामीण अपनी राजनीति पर बहस करते थे। अतः कोल्हुओं की बस्ती उजड़ने से जहाँ सुनहली, मादक संध्याओं के धूँधड़े के चारों ओर की संगतें उजड़ गईं, वहाँ गरीब मजदूरों का शीतकाल का आर्थिक व शारीरिक सहारा—गुड़, गन्ना, रस, खोई भी उठ गया जो उन्हें कोल्हू से मिल जाता था। ऐसे गांवों में मल्होरें केवल बुड्ढों को ही याद रही हैं। युवक तो अब कांटे पर जाकर लाउड स्पीकर से प्रसारित फिल्मी गीत सुनते हैं और उन गानों को गुनगुनाते हैं। मल्होरें विस्मृत होती जा रही हैं। समय रहते इस अनमोल निधि की रक्षा कर लेना आवश्यक है।

---

# भीलों का एक लोकगीत

**ब्रह्मदत्त दीक्षित**

भारतीय पिछड़ी जातियों में भील जाति विशेष प्रसिद्ध है। इसकी संख्या २० और २५ लाख के बीच में है और यह मेवाड़, ग्वालियर, प्रतापगढ़, झाबुआ, बांसवाड़ा, इन्दौर, गुजरात तथा मध्यभारत में विशेष रूप से बसी हुई है।

इनकी बोली भीलोड़ी बोली के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें मेवाड़ी और गुजराती का मिश्रण विशेष रूप से देखा जा सकता है। इनके उच्चारण भी कुछ भिन्न प्रकार के हैं; 'ज' को 'ज़', स को ह, च को श औ च के बीच का उच्चारण, ण का बहुल प्रयोग, तथा सुन्दर प्राकृत के शुद्ध रूप इनकी बोली में विशेष रूप से व्यवहृत हैं। स्त्री-पुरुष सभी मिलकर जब होड़ में गीत गाने लगते हैं, तो एक विशेष और चित्ताकर्षक समाँ बँध जाता है और इनके अद्भुत काव्य का सक्रिय रूप दीख पड़ता है। निम्नांकित गीत का क्षेत्र विशेष रूप से इन्दौर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, झाबुआ, सैलाना आदि रियासतों का क्षेत्र है।

प्रस्तुत गीत का विषय है:—एक भील बची का विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया है। ससुराल में एक बार उसे अपने पीहर की याद आ जाती है। यह समय बरसात का है। अपने डूँगर ( जहाँ पर भीलों की छोटी छोटी झोंपड़ियाँ होती हैं ) से वह एक पथिक को आता

हुआ देखती है। वह कल्पना करने लगती है कि उसके पास कोई आनेवाला नहीं जिसका वह कारण भी बताती है तथा अपने रोने की अवस्था को व्यक्त करके कितना स्वाभाविक वातावरण उपस्थित कर देती है। गीत में समय और अवस्था का पूर्ण चित्रण है। वह तो बहू है और उसका घर भी है। झट सास आ उपस्थित होती है। सास का चरित्र जो साधारणतः प्रसिद्ध है, ज्यों का त्यों व्यक्त हो रहा है। वह बहू से काम कराती है और उसकी आशा को इतना लम्बा बनाती है, जिसमें उस ( सास ) का कार्य पूरा हो जावे। अपने मां-बाप के घर की याद में बहू सोत्साह हो क्या नहीं करती ? सास भी उससे यही कहकर सारा कार्य करा लेती है कि वह बहू का उन आगन्तुकों से परिचय करा देगी। बार-बार के आश्वासन से बहू का संदेह बढ़ता जाता है, किन्तु वह कार्यरत रहती है। अन्त में सब कुछ होने पर भी परम्परागत संस्कार का परिचय मिलता है —सास—कुछ नहीं बताती—किन्तु फिर भी उसे बहू से प्यार है। बहू के पुनः निवेदन करने पर सास उन आगन्तुकों का परिचय देती है। परिचय पाकर बहू के हृदय में जो प्यार की बहिया उमड़ती है—वही गीत का चरम उत्कर्ष है।

| भीलोड़ी बोली | हिन्दी |
|---|---|
| **बनज़ारा रे बनज़ारा** | |
| ई नदिएँ पूरे जाहे,<br>म्हार आणू ले कुने आवे। | ( वर्षा ऋतु आ गई है ) ये नदियाँ भरपूर होकर चल पड़ी हैं। मुझे लेने को कौन आवेगा ? |
| म्हार पीयर घणा दूरे ॥<br>बनजारा रे बनजारा ॥१॥ | मेरा पीहर तो यहाँ से बहुत दूर है। ओ पथिक ! ओ बनज़ारे ? |
| म्हारो बीरो नानावाले[1],<br>म्हारो बापो डायापण में। | मेरे भाई सभी छोटी अवस्था के हैं। मेरा पिता बहुत वृद्ध है। |
| हूँ रचड़ी डूंगर रोऊँ-<br>बनज़ारा रे बनज़ारा ॥२॥ | ऐ पथिक ? मैं इस पर्वतीय ऊँचे टीले पर चढ़ी हुई रो रही हूँ। |
| यो धोली ने घोड़ीयां वालो,<br>यो कुण आवीरियो। | देखूँ तो—ये सफेद घोड़ीवाला कौन आ रहा है ? |
| बाटेनो बटारो,<br>यो बनज़ारा रे बनज़ारा ॥३॥ | ये किसी पथ का पथिक ज्ञात हो रहा है। |
| हाहुड़ी[2] आंगणे आवी,<br>बैठी गया वायदा होरी। | तब तक सास आंगन में आकर बैठ गई और बहू से कहा कि तूँ मेरे वादे पूरा करती |

१—छोटी अवस्था का बच्चा, २—सास।

काड़े तो बवड़[3] तने ओलखाई दूँ-
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥४॥

रोटी करी काडे तो ओलखाई दूँ,
रोटी ले खवाडी दे तो ओलखाई दूँ।
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥५॥

खाई हाई ने चाल्या,
ओलखावो ने हाहु जी।
कुण जाई रिया—
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥६॥

धोली ने घोड़ीवाला—थारा बापा।
पगे चाले थारो काको—
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥७॥

ऊबो[4] रे रे बापा—
हूँ बईया दईने मललूँ।
मन नाना हीं परणाई—
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥८॥

कई ऊबो रू बेटी—
तूँ आँगणे होरी फरी।
तूँ बोली नी कांई मलूँ—
बनज़ारा रे बनज़ारा ॥९॥

चल, तो बाद में मैं तुझे पहिचनवा दूँगी कि ये बनज़ारा या पथिक कौन है।

रोटी कर—बाद में पहिचानवाऊँगी,

रोटी लेकर खिला दे तब उस पथिक को पहिचनवा दूँगी।

जब वे लोग खा पीकर चल दिए और सास ने न पहिचनवाया तो बहू बोलीः—ऐ सास जी! खा पीकर ये लोग तो चल दिए। पहिचनवाइए ये कौन जा रहे हैं? तब सास बोली —

ये सफेद घोड़ीवाला तेरा बाप है।

जो पैदल चल रहा है वह तेरा काका है। इस पर बहू पुकार उठीः—

ठहरो! खड़े रहो! ओ बापा!! मैं बाहें डालकर मिल लूँ—तुमने तो मुझे बचपन में ही ब्याह दिया था।

बाप बोला—ऐ बेटी! मैं क्यों खड़ा होऊँ—तू तो अभी आंगन में इधर उधर डोलती फिरी और बोली भी नहीं—फिर मैं कैसे मिलूं?

---

३—बाद, ४—खड़े हो, ठहरो।

# विराट की कल्पना

( एक निमाड़ी लोकगीत )

"शुक्र को तारो रे ईश्वर ऊंगी रह्यो।
तेकी मख टीकी घड़ाव ॥ १ ॥
ध्रुव की बादलई रे ईश्वर तुली रही।
ते को मख तहबोल रंगाव ॥ २ ॥
सरग की बिजलई रे ईश्वर कड़की रही।
तेकी मख मगजी लगाव ॥ ३ ॥
नव लख तारा रे ईश्वर चमकी रह्या।
तेकी मख अंगिया सिलाव ॥ ४ ॥
चांद सूरज रे ईश्वर ऊंगी रह्या।
तेकी मख टीकी लगाव ॥ ५ ॥
वासुकी नाग रे ईश्वर देखइ रह्यो।
तेकी मख वेणी गुथाड़ ॥ ६ ॥
बड़ी हठ वालइ रे गौरल गोरड़ी ॥"

अर्थः—एक दिन रनु अपने पति से हठ पकड़ लेती है और कहती है कि हे पतिदेव, वह जो आकाश में तेजस्वी "शुक्र का तारा" चमक रहा है, उसकी मुझे "बिंदी" गढ़वा दो ॥ १ ॥

और वह जो ध्रुव की ओर ( उत्तर में ) बरसने योग्य "बदली" छाई हुई है उसकी चूनर रंगवा दो ॥ २ ॥

और सुनो, स्वर्ग में कड़कनेवाली "बिजली" की उसमें मगजी लगवा देना ॥ ३ ॥

साथ ही आकाश में चमकनेवाले लाखों "ताराओं" की मुझे "कंचुकी" सिलवा देना कि जिसके अग्रभाग में "चन्द्र और सूर्य" जड़े हुए हों ॥ ४–५ ॥

इस तरह बादल और बिजली से लगाकर ग्रह-नक्षत्र और चन्द्र-सूर्य से युक्त अपनी चूनर और कंचुकी बनवाने का आग्रह करने के पश्चात् वह एक चीज की ओर मांग करती है। और वह है अपने केशों में गूंथने के लिये चोटी का आग्रह। लम्बे, चिकने काले केश स्त्री के सौन्दर्य के साथ ही साथ सौभाग्य के सूचक होते हैं।

इसलिए वह कहती है कि हे पति देव! वह जो इठलाता और बलखाता हुआ स्याह वर्ण का वासुकी नाग दीख रहा है, उसकी मुझे "वेणी" गुथवा दो ॥ ६ ॥

और इसपर पति कहते हैं कि "हे गौर वर्ण रनु तू बड़ी हठवाली है।"

—रामनारायण उपाध्याय

# जनपदीय साहित्य परिचय

## निमाड़ी लोकगीत *

निमाड़ी भाषा के लगभग २५ गीतों का यह संग्रह है, जिसे श्री रामनारायण उपाध्याय ने प्रस्तुत किया है। एक गीत का बोल है:—

**म्हारो देश मालवो, मुलक निमाड़, गाँवड़ा को छे रहे बास।**

मानों इन शब्दों में लोकगीत स्वयं अपनी जन्म-भूमि का परिचय दे रहा है। विन्ध्याचल और सतपुड़ा के बीच के एक अंचल में, नर्मदा के उत्तर धार और दक्षिण बड़वानी को लेकर कुछ पूरब तक फैला हुआ प्रदेश निमाड़ है, जो मालवा का ही ठेठ भाग है। नर्मदा की रस-पूर्ण आत्मा इस प्रदेश के लोकगीतों में बसी है। इतने सरस और भावपूर्ण गीतों की जन्मस्थली होने के कारण सचमुच निमाड़ की भूमि लोकसाहित्य की सौभाग्यशीला धात्री कही जा सकती है। लेखक ने लिखा है कि निमाड़ लोकसाहित्य में भील सरदार टांटिया, जिसने अंग्रेजों से लोहा लेते हुए अपने प्राण गँवाए और महान कवि सन्त सिंगा के कर्म और ज्ञान की साधना निमाड़ी वायुमण्डल को सुरभित करती है। किन्तु इन दो विभूतियों से भी कहीं अधिक जीवन की अनन्त अमिट धारा निमाड़ी लोकगीतों में बही है। चैत्र बदी १० से चैत्र सुदी ३ तक के ९ दिनों में गनगौर का उत्सव निमाड़ की विशेषता है। इस अवसर पर सारा प्रदेश गीतमय हो उठता है और शिव-पार्वती, ब्रह्मा-सावित्री, विष्णु-लक्ष्मी और चन्द्रमा-रोहिणी की वन्दना के गीत गाए जाते हैं। इनमें सबसे अधिक गीत रनुदेवी और उसके पति (धणियेर) सूर्य के संवाद रूप में कहे गए हैं। रनुबाई ही निमाड़ी लोकगीतों की अधिष्ठात्री देवी है।

**थारो काइ काइ रूप बखाण रनुबाइ**
**सोरठ देस सो आइ ओ ॥ १ ॥**

सौराष्ट्र देश से आने का यह संकेत रनुदेवी की पहचान के लिये महत्वपूर्ण है। एक गीत में रनु को रानी कहा गया है (पृ० ३८)। अन्यत्र रनुबाई के मन्दिर का वर्णन है, जिसमें आसन पर रनुबाई विराजती है और अपने भक्तों के लिये मन्दिर का द्वार खोल देती है (पृ० ४२–४३)। एक दूसरे गीत में कहा गया है कि रनुबाई बांझ स्त्री की कोख बहोर कर एक पुत्र देती है। हमारी सम्मति में यह रनुदेवी सूर्य की पत्नी राज्ञी का ही अपभ्रंश भाषा और लोक-भाषा में घिसा हुआ रूप है—जैसे यज्ञ से जण्ण—जन्न—जान और उससे जन बनता है, जैसा कि यज्ञोपवीत शब्द से निकले हुए जनेऊ शब्द में पाया जाता है; उसी प्रकार रण्णी—रानी और अन्त में रनु रूप बना। वस्तुतः राज्ञी देवी की पूजा गुजरात सौराष्ट्र में प्रचलित थी।

---

* लेखक श्री रामनारायण उपाध्याय; प्रकाशक—मध्यप्रान्त विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर। पृष्ठ सं० ७२, मूल्य २)

उसको १४ वीं शती तक की मूर्तियाँ पाई गई हैं।[1] एक मूर्ति के लेख में उसे श्री साम्बादित्य की देवी श्री रनादेवी कहा गया है। सौराष्ट्र में पोरबन्दर के समीप बगवादर और किन्दरखेड़ा में रन्नादेवी या रांदल देवी के मन्दिर हैं। मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि के अनुसार राज्ञी और निक्षुभा सूर्य की स्त्रियाँ थीं। वस्तुतः यह राज्ञी देवी गुप्तकाल से पहले ईरानी शकों के साथ गुजरात सौराष्ट्र में लाई गई। पहलवी भाषा में इसका नाम रश्न था जो मिथ्र या मिहिर की सहयोगिनी थी। जैसे यज्ञ और जशन वैसे ही राज्ञ या रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित रूप हैं। जैसा कि निमाड़ी लोक गीत में कहा गया है गुजरात सौराष्ट्र में भी राण दे या रांदल मां की पूजा सन्तान प्राप्ति के लिये की जाती है। अर्वाचीन गुजराती साहित्य में भी रणा दे के भजन पाए जाते हैं।

रनुबाई के नाम की निरुक्ति और उसका प्राचीन रूप तो प्रासंगिक बात है। देवी का नाम कुछ भी हो, गीतों का माधुर्य तो उनके सरस भावों में है। अबोलो संज्ञक एक गीत में जब जब सावन मास आने पर पत्नी पीहर जाना चाहती है और पति उससे रूठकर अनबोला साध लेता है, तो वह कहती है:—

**चावरी का फेरा फिरी, बंधाणी थारा पदर।**
**अलबेलाजी तुन नहीं रे जाणी म्हारी कदर॥**

'अग्नि को साक्षी करके लग्न के समय से मैं तुम्हारे साथ बंधी हूं, लेकिन हे प्रियतम, आज तक तुमने मेरा मूल्य नहीं पहचाना।' पत्नी के मुख से निकले इन शब्दों में अकथनीय टीस है। रनुबाई के रूप में मानों निमाड़ की तरुणियाँ ही गीतों का विषय बनी हैं। पितृगृह में कन्या के जीवन का चित्र खींचते समय कहा गया है—'सोने और रूपे का घड़ा गढ़वाया, रेशम की लम्बी डोरी से उसे बांधा और रनुबाई ने बालपन के अपने खेल में गंगा में जाकर उसे भरा, यमुना में भरा, और रे कावेरी में जाकर झकझोर कर डुबाया।'—

**सोना रूपा का घड़ा घड़ीला,**
**रेशम लम्बी डोर हो, झालरियो।**
**रनुबाई गंगा भरिया, जमना भरिया,**
**जाय कवेरी झकोल हो झालरियो।**

लोकगीतों की कन्या गंगा से कावेरी तक एक और अखण्ड है। शायद ही किसी अन्य लोकगीत में गीतों को गानेवाली उत्तर से दक्षिण तक फैली भारतीय आत्मा की एकता का इस प्रकार उल्लेख हुआ हो। इसी गीत में कन्या को बिदा कराने उसके ससुर, जेठ और देवर आते हैं और लौट जाते हैं। अन्त में स्वयं उसका पति आता है। पुत्री उसे भी वापिस भेजने को कहती है, जिससे वह कुछ दिन और मायके में रह सके। किन्तु पिता कहते हैं कि

---

१—देखिए श्री एस सी० उपाध्याय का लेख 'चौदहवीं शती की राज्ञीदेवी की मूर्ति, जर्नल यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी १९५०, पृ० २१३—१७

उसका पति हाड़ा वंश का कुंअर कन्हैया है, वह विदा कराए बिना पीछे नहीं फिरेगा। एक ही गोत में मथुरा के कन्हैया. बूंदी के हाड़ा और कावेरी, गंगा, जमुना की जल धारा, ये भौगोलिक और ऐतिहासिक अभिप्राय प्रेम पूर्वक एक साथ मिल बैठे हैं।

विराट शृंगार शीर्षक लोकगीत (पृ० ११) सचमुच निमाड़ी लोकगीतों का राजा है। छः चौपाइयों के इस छोटे से लोकगीत में स्वर्ग से पाताल तक के उपकरणों को गूंथ कर विराट कल्पना की गई है। हठीली और वर्ण की गोरी पत्नी शुक्र नक्षत्र की बिन्दी, उत्तर दिशा की बदली की चूनरी जिसमें स्वर्ग में कड़कनेवाली बिजली की मगजी टंकी है, नौ लखतारों से चमकती हुई अंगिया जिसमें सामने चन्द्र और सूर्य की टिकुली जड़ी है, पहनने की अभिलाषा करती है, और यही नहीं, वासुकि नाग से अपनी वेणी गूँथना चाहती है। पर उत्तर में पति इतना ही कहता है 'हे गर्बीली गोरी, तू तो बड़ी हठीली है!' संसार में किसी भी कवि के लिये इस प्रकार की उदात्त कल्पना गौरवास्पद समझी जायगी। यह गीत इसी अंक में अन्यत्र छपा है।

इस संग्रह का स्वप्न शीर्षक गीत प्रत्येक सहृदय पाठक को आनन्द विभोर किए बिना न रहेगा। इसकी जोड़ का लोकगीत भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। एक स्त्री स्वप्न में १४ वस्तुएं देखती है—

'हे पतिदेव ( धणियेर ), स्वप्न में मैंने मानसरोवर देखा, भरा पुरा भंडार देखा, बहती गंगा देखी, भरी पुरी बावड़ी देखी, सावन की हरियाली तीज देखी, कड़कती हुई बिजली देखी, गोकुल का कन्हैया देखा, तड़फड़ाता हुआ बिच्छू देखा, गुलाब का फूल देखा, झिलमिल करता हुआ दीपक देखा, केले का वृक्ष देखा, और बिना फल फूल वाला बांझ गन्ने का खेत देखा, पीलिया ( पियरी ) ओढ़े हुए स्त्री देखी, और उगता हुआ सूर्य देखा।* हे मेरे भोले पति स्वप्न का अर्थ बताओ।' पति उत्तर देता है—

'मानसरोवर तुम्हारा पिता है, रनादेवी।
भरा-पुरा भंडार तुम्हारा ससुर है, रनादेवी।
बहती गंगा तुम्हारी मां है, रनादेवी।
भरी-पुरी बावड़ी तुम्हारी सास है, रनादेवी
सावन की तीज तुम्हारी बहन है, रनादेवी।
कड़कती बिजली तुम्हारी ननद है, रनादेवी।
गोकुल का कन्हैया तुम्हारा भाई है, रनादेवी।
तलफता बिच्छू तुम्हारा देवर है, रनादेवी।
गुलाबका फूल तुम्हारा सुकुमार पुत्र है, रनादेवी।
चमकता दीपक तुम्हारा जमाई है, रनादेवी।

---

*इनमें से कई अभिप्राय जैसे मानसरोवर, बावड़ी, उगता हुआ सूर्य (श्री सूर्योदय), पीलिया ओढ़े हुए स्त्री (लक्ष्मी) तीर्थंकरों की माताओं के १४ स्वप्नों में भी कहे गए हैं।

आंगन का केला तुम्हारी कन्या है, रनादेवी।
बाड़ की बांझ ईख तुम्हारी दासी है, रनादेवी।
पीले बतों की बी तुम्हारी सौत है, रना देवी।
उगता हुआ सूर्य तुम्हारा पति है, रनादेवी।'

भारतीय सामाजिक जीवन के मन्थन से सगे सम्बन्धियों के १४ रत्नों का जो स्वरूप दीर्घकालीन इतिहास के भीतर से निष्पन्न हुआ है, उसी का वर्णन गीत के १४ स्वप्नों में है।

एक छोटे से बाल सुलभ सान्ध्यगीत में सम्मिलन के अभिप्रायों की कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हुई है। उसके संक्षिप्त निखरे रूप को देख कर जापानी लोकगीतों का स्मरण हो आता है—

'दिया बत्ती का हुआ रे मिलाप,
—सुन्दर सन्ध्या की बेला है।
गऊ बछड़ों का हुआ रे मिलाप,
—सुन्दर सन्ध्या की बेला है।
पंछी बच्चों का हुआ रे मिलाप,
—सुन्दर सन्ध्या की बेला है।
रात दिन का हुआ रे मिलाप,
—सुन्दर सन्ध्या की बेला है।
राजा रानी का हुआ रे मिलाप,
—सुन्दर सन्ध्या की बेला है।

गीत की अन्तिम पंक्ति में सरल भावों की हिलोर उमड़ती हुई जान पड़ती है। संग्रह के अन्त में बेहूला गाय, उसके बच्चे और सिंह का वह प्रसिद्ध गीत है, जो न केवल निमाड़ी में बल्कि अवधी, भोजपुरी आदि अन्य लोकभाषाओं में भी पाया गया है। लोकगीतों में मनोभावों की उद्भावना और उन्हें सरलता से कहने की पूर्ण सफलता देखी जाती है। एक जगह कहा है:—

'जमुना की शीतल छाया में बाँकी नदी बह रही है। उसका छोटा बच्चा वृक्षों की पत्तियां तोड़कर खेल रहा है। रनुबाई प्राकृतिक सौन्दर्य से विभोर होकर नदी में जलक्रीड़ा कर रही है। सखी पूछ उठती है—यदि ऐसे में तुम्हारा पति आ जाय, तो क्या करोगी? वह उत्तर देती है—मैं हाथ जोड़ कर सिर झुका लूंगी और नेत्रों से उन्हें उत्तर दे लूंगी।'

प्रत्येक बोली के लोकगीतों के अध्ययन से अनेक शब्दों का परिज्ञान और सांस्कृतिक जीवन का परिचय प्राप्त होता है। निमाड़ी गीतों में वस्त्रों का वर्णन करते हुए—पोयचा, सेला, साड़ी, बागा, झागा, टोपी, पेला (पीलिया, पियरी) पञ्चा, काचुली, लुगड़ा और दक्खिनी चीर का उल्लेख आया है। पोयचा वही वस्त्र है, जिसे पोमचा भी कहा जाता था और जिसके

बीच में कमल का एक फुल्ला ( पद्म-पउम ) बना रहता था। राजस्थान में आज भी यह वस्त्र बाधनू की रंगाई से बनाया जाता है। 'उत्तर का नीर और दक्खिन का चीर' यह लोक-श्रुति ही है। महाभारत सभापर्व में दक्खिन के बने हुए मणि चीर का उल्लेख है, जिसे वहां के राजा महाराजा युधिष्ठिर के लिये भेंट लाए थे। एक दूसरे गीत में ५० हाथ की मोतियों से जड़ी साड़ी का उल्लेख है। वस्तुतः यह प्राचीन बहुमूल्य वस्त्रों की अनुश्रुति लोकगीतों में रह गई है। गुप्तकाल में इस प्रकार के लम्बे वस्त्र बनते थे और देवताओं के लिये अर्पित किए जाते थे। उन्हें देवदूष्य कहते थे, जिनका मूल्य एक लाख रुपए तक होता था। ऐसे वस्त्र बौद्ध-स्तूपों पर चढ़ाकर लपेटे जाते थे। सारनाथ के धमेख स्तूप के चारों ओर पत्थर के आच्छादन पर जो फूल पत्तियों की सजावट है, वह उसी प्रकार के बहूमूल्य देवदूष्य की अनुकृति है। ऐसे रेशमी वस्त्र बहुत ही झीने होते थे। गीत में भी उस बात को कहा गया है;—

'हुउ नापूं तो हाथ पचास,
तोलूं तो तोला तीस जी।
लखपति साड़ी लखसे रेशमी जी।

एक स्थान पर चाबुक के लिये तजण शब्द का प्रयोग हुआ है, जो फारसी ताजियाना का रूप है। अन्यत्र कथील (राँगा) और जुरंग (सोना) शब्द आए हैं, जो संस्कृत कास्तीर और हिरण्य (पहलवी जरेन्य) के रूप हैं।

—वासुदेवशरण

# जनपदीय प्रगति

## १ राजस्थानी लोकनृत्य, नाट्य तथा लोकगीतों के पुनरुत्थान, विकास तथा प्रचार का संक्षिप्त विवरण

राजस्थान को अब तक अधिकांश भारतीय जनता केवल वीरों और सेठ-साहूकारों के प्रान्त के रूप में ही जानती है। इतिहासकारों ने भी अब तक उसे राजपूतों के वीर कृत्यों और राजा महाराजाओं के वैभव-विलास की कहानी के रूप में ही चित्रित किया है। उसकी लोक-संस्कृति की सुन्दर और मनोरम झांकी उनकी आंखों से ओझल ही रही। जिनकी भी इस ओर निगाह गई है, उन्होंने भी उसी साहित्य और उसी कला का लेखा जोखा रखा है, जो राजा महाराजाओं तथा धनिकों के प्रासादों की चहार दीवारी में फली-फूली और विकसित हुई है। उसके परिणाम स्वरूप आज हमें वीरगाथा और रीतिकाल के अनुपम साहित्य के दर्शन हुए हैं, कला के क्षेत्र में भी जयपुर, उदयपुर, अलवर, करोली तथा अन्य राजदरबारों में विकसित हुए ख्याल तथा ध्रुपद संगीत की उत्कृष्ट परंपराएं और कथा नृत्य की अद्वितीय शैलियां उपलब्ध हुई हैं। उनसे राजस्थान के गौरव को अवश्य ही चार चांद लगे हैं, परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि राजस्थान की यह कलात्मक और साहित्यिक धरोहर जन सम्पर्क, जनरुचि और लोक-रंजन से काफी दूर रही है और अब तक इस ओर केवल एकांगी कार्य ही हुआ है। बहुत कम विद्वानों का ध्यान लोक-साहित्य और लोक-कलाओं की ओर गया है। राजस्थान की लोक कलाओं और लोकसाहित्य में, जो मौलिकता जो रंगीनी और जो मनोरमता है, वह भारतवर्ष की अन्य लोक संपदाओं में बहुत कम देखने में आती है। इसका मूल कारण राजस्थान का ही शासन सम्बन्धी राजनैतिक और सामाजिक प्रभावों से दूर रहना और अपनी प्राचीनता के प्रति उसकी निष्ठा है। राजस्थान के एकीकरण तथा उसकी वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों के कारण उसके सांस्कृतिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा है और आधुनिकता के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप उसके लोक साहित्य और लोक-कलाओं को काफी क्षति पहुँची है।

राजस्थान की कई इकाइयों में लोकगीतों के संकलन, विश्लेषण तथा प्रकाशन का अच्छा कार्य हुआ है, परन्तु उसका रूप एकांगी ही रहा है। राजस्थान की लोक-कला और लोक-साहित्य को एक दूसरे से अलग करना दूध से पानी को अलग करने के समान है। दोनों को एक दृष्टि तथा एक सेट-अप में देखने में ही उसकी सच्ची आत्मा के दर्शन हो सकते हैं! राजस्थान के अनेक लोक-गीत लोक-नृत्य और लोकनाट्यों के साथ सम्बद्ध हैं। ऐसे लोकनृत्य और लोकनाट्यों में राजस्थान की गौरी, घूमर, गनगोर; तुरा कलंगी के खेल, ख्याल, रासधारियां, गीदंड, कच्छी घोड़ी, गेर झूमर, ढोरी, नेजा, नौटंकी, कठपुतली, बनजारा, बालदिया, मियावंड आदि उल्लेखनीय हैं। ये नृत्यनाट्य एक

साथ कई दिनों तक हजारों नर-नारियों का निःशुल्क मनोरंजन करते हैं। लोक नाट्यों और लोक-नृत्यों में जो गीत प्रयुक्त होते हैं वे न केवल साहित्य के ही उत्कृष्ट नमूने हैं, वरन् स्वरों की रचना तथा रागों की मधुरता की दृष्टि से भी बड़ी-बड़ी आधुनिक और शास्त्रीय रचनाओं को मात करते हैं। जिन्होंने राजस्थान के रसिए, उदयपुर की होरियां, भीलों के फगुए, बीकानेरी चुनरी के गीत, मेवाड़ी घूमरें, जयपुरी लहरिये, मारवाड़ी मांडे, जैसलमेरी दारुडी तथा अनेक त्यौहारों, विवाहों और समारोहों के गीत सुने हैं, उन्हें ज्ञात होगा कि राजस्थानी रागों में कितना माधुर्य और कितनी मनमोहकता है। इन गीतों का यत्र-तत्र संकलन अवश्य हुआ है, परन्तु उनके स्वरों के संकलन का कहीं भी कोई कार्य नहीं हो रहा है। गीतों के प्रकाशन से साहित्यिक सौंदर्य की झांकी अवश्य मिल सकती है, परन्तु उन गीतों की आत्मा में जिन मधुर स्वरों का समावेश है वे मूक ही रह जाते हैं, अतः इन स्वरों का शब्द-संकलन के साथ ही उचित नोटेशन प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है। यह सब कार्य अब तक पिछले ग्यारह वर्षों से विद्याभवन-कला-मंडल द्वारा अपने छोटे से क्षेत्र में होता रहा है। विद्याभवन-कला-मंडल जयपुर की प्रसिद्ध विद्याभवन सोसायटी का एक विभाग मात्र था। उसका एक सांस्कृतिक दल प्रतिवर्ष राजस्थानी संस्कृति और लोक-कलाओं के प्रचारार्थ भारतवर्ष के प्रमुख नगरों का दौरा करता रहा है। वह राजस्थानी लोक-नृत्य, लोक नाट्य तथा लोकगीतों का एक प्रतिनिधि कार्यक्रम जनता के समक्ष उपस्थित करता था। भारत की लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने इस कला-मंडल के कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

यह कला-मंडल मेरे निर्देशन में अबतक काम करता रहा। मैं विद्याभवन का आजीवन सदस्य हूँ और इसके जन्म और विकास के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। विद्याभवन की बढ़ती हुई शैक्षणिक जिम्मेदारियों के कारण अब वह इस कार्य को आगे बढ़ाने में असमर्थ है, अतः मैंने विद्याभवन की समस्त शुभ कामनाएं और उसका सम्पूर्ण सहयोग प्राप्त करके हाल ही में "भारतीय लोक-कला-मंडल" नामक संस्था की स्थापना की है। इस संस्था के संस्थापक सदस्यों में देश के कई विद्वान्, कलाकार तथा लोकसेवक हैं। इसके अध्यक्ष बिहार प्रदेश के माननीय राज्यपाल श्री आर० आर० दिवाकर तथा उपाध्यक्ष श्री बलवन्त सिंह मेहता हैं। मैं इसका डाइरेक्टर हूँ। इसका कार्य केवल लोकनृत्यों, लोकनाट्यों तथा लोकगीतों के खोज, संकलन तथा विकास का रहेगा और इसका कार्यक्षेत्र सर्वप्रथम राजस्थान तथा बाद में अखिल भारतवर्ष होगा। यह कार्य विद्या-भवन-कलामंडल ही का विकसित और विस्तृत रूप है और इसके कार्यकर्त्ता भी लगभग वे ही हैं। इस संक्षिप्त कार्य विवरण से आपको हमारे कार्य की एक तस्वीर मिल सकेगी।

—देवीलाल सामर

## २. छत्तीसगढ़ी भाषा का साहित्य

ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि की भाँति 'छत्तीसगढ़ी' भी हिन्दी की एक प्रमुख उपभाषा है; परन्तु इसमें उनकी अपेक्षा ग्रन्थ रचना बहुत कम हुई है। प्रथम तो इस बोली की रूपरेखा ही निश्चत नहीं थी; परन्तु लगभग पचास वर्ष हुए श्री हीरालाल जी काव्योपाध्याय ने सर्वप्रथम इस बोली का एक व्याकरण लिखा, जिसका अनुवाद बाद में डाक्टर ग्रियर्सन ने "ए ग्रामर ऑव दी छत्तीसगढ़ी डायलेक्ट ऑव हिन्दी" के नाम से किया। सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी पण्डित लोचन प्रसाद जी पाण्डेय द्वारा आवश्यक संशोधन एवं परिवर्धन किए जाने के पाश्चात् प्रान्तीय सरकार ने इस पुस्तक को प्रकाशित किया। इस प्रकार इस बोली की रूपरेखा स्थिर हुई।

इस बोली में ग्रन्थरचना एवं उनका प्रकाशन बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। जिन विद्वानों ने इस बोली में सर्वप्रथम सुन्दर रचनाएँ कीं, उनमें पण्डित लोचन प्रसाद जी पांडेय तथा पण्डित सुन्दरलाल शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुन्दरलाल जी की पुस्तक 'दानलीला' का सर्वत्र खासा स्वागत हुआ और वह अल्पकाल में ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् ही स्वतन्त्र रूप से छत्तीसगढ़ में ग्रन्थरचना हो सकने की संभावना हुई। कुछेक साहित्यिकों ने इस पुस्तक का स्वागत किया तथा अन्यों ने विरोध। मध्यप्रांत के ख्यातिप्राप्त साहित्यिक पण्डित रघुबर प्रसाद जी द्विवेदी ने तत्कालीन 'हितकारिणी' पत्रिका में उक्त पुस्तक की अत्यन्त कटु आलोचना कर उसके प्रकाशन को निन्द्य घोषित किया था। परन्तु, इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक अत्यन्त जनप्रिय हुई; क्योंकि उसके प्रकाशन के थोड़े ही समय पश्चात् बाज़ार में लगभग आधे दर्जन विभिन्न लेखकों की लिखी हुई 'दानलीला' की पुस्तकें बिकने लगीं, जो सुंदरलाल जी की दानलीला में ही यदा कदा परिवर्तन कर छपवा ली गईं थीं।

दानलीला की सफलता से उत्साहित होकर अन्य व्यक्तियों ने भी छत्तीसगढ़ी में कविता करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही 'नागलीला' और 'भूतलीला' नामक दो पुस्तिकाएं और प्रकाशित हुईं जिनकी रचना पौराणिक कथानकों के आधार पर की गई थी। पुस्तकें ज़्यादा अच्छी न बन सकीं, अतएव उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त नहीं हुई।

इधर कुछ प्रकाशकों का ध्यान 'ग्रामगीत' प्रकाशित करने की ओर गया, किन्तु उन्हें सुयोग्य हिंदी लेखकों का सहयोग प्राप्त न हो सका।

स्वनामधन्य रायबहादुर श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' जी ने 'माता सेवा' के गीतों का एक संग्रह प्रकाशित किया। किंतु संग्रह के गीतों में छत्तीसगढ़ की आत्मा का अभाव तथा भाषा संस्कृतमय होने के कारण इस संग्रह का साहित्यिक महत्त्व बहुत कम हो जाता है। अन्य प्रकाशकों ने मोटर ड्राइवरों आदि से भद्दे गीतों का संग्रह करा उन्हें ट्रेक्ट के रूप में प्रकाशित किया। इस प्रकार के जितने ट्रेक्ट हमारी नजरों से गुजरे हैं प्रायः सबके सब ही अश्लीलता से भरे गीतों के थे। साहित्य की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है।

अन्य महत्वपूर्ण छत्तीसगढ़ी प्रकाशनों में श्री कपिलनाथ मिश्र की 'खुसराचिरई

के विहाव' नामक पुस्तक अपना विशेष स्थान रखती है। हास्य रस प्रधान एवं अक्षरबोध की पुस्तक होने के कारण यह पुस्तक भी लोकप्रिय हुई।

अध्यापक श्री शुकलाल पाण्डेय की छत्तीसगढ़ी सेवाएं भी अपना निजी महत्त्व रखती हैं। उन्होंने दो महत्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की है। प्रथम पुस्तक, शेक्सपियरकृत 'कमेडी ऑफ एरर्स' का सरस पद्यानुवाद है, एवं उनकी द्वितीय पुस्तक 'गीयाँ' बालोपयोगिता एवं मनोरंजन की दृष्टि से पूर्णतः सफल हुई है।

कुछ समय से छत्तीसगढ़ी में राष्ट्रीय कविता भी होने लगी है। जिन कवियों ने इस दिशा में विशेष सफलता प्राप्त की है, उनमें भाई कुंजबिहारी चौबे और गिरवरदास वैष्णव मुख्य हैं। चौबे जी में एक सच्चे कवि की प्रतिभा थी। उनको हिंदी कविताएं कभी 'सरस्वती' 'माधुरी' आदि में छपी थीं। उन्होंने हिंदी में लिखा तो बहुत था; किन्तु उसे अपनी नोटबुक तक ही सीमित रखा। उनकी छत्तीसगढ़ी की मार्मिक रचनाओं का एक सुंदर संग्रह उपलब्ध है। वैष्णव जी की राजनैतिक कविताओं का भी एक संग्रह—'छत्तीसगढ़ी सुराज' प्रकाशित हुआ है, जिसमें गरीबी की आह से संबंधित कविताएं अत्यन्त मार्मिक हुई हैं।

कुछ अन्य पुस्तकें 'पाप का फल' 'ददरिया रामायण' 'ददरिया कृष्णायन' आदि अन्य पुस्तकों के आधार पर लिखकर प्रकाशित कराई गई हैं। कुछ बाजारू घासलेटी किस्से भी हिंदी तथा अन्य भाषाओं से अनूदित करा कर बाजारों में बेचे जा रहे हैं; परंतु साहित्य की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

इतनी थोड़ी सी साहित्यिक संपत्ति रखनेवाली कोई भी साहित्यिक भाषा कभी महत्वपूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती; परंतु फिर भी छत्तीसगढ़ी का साहित्य अभी विकास के पथ पर है; और संभव है कि कोई महान् कलाकार यहाँ अवतरित होकर अमर साहित्य का सृजन कर जाय।

फिर भी छत्तीसगढ़ी का साहित्यिक महत्व केवल प्रकाशित ग्रन्थों के अभाव में ही कम नहीं हो जाता। उसके साहित्य का एक उज्वलतर एवं महत्त्वपूर्ण भाग उसका ग्राम-साहित्य तो अभी अन्धकार में ही है। इसके 'चदेनी' 'ढोला' 'रसालू' आदि मार्मिक काव्य तो अभी जनता के सामने आए ही नहीं हैं। हमें विश्वास है कि साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग के प्रकाशन से इसका साहित्यिक मूल्य थोड़ा बहुत अवश्य बढ़ेगा।

यह क्षोभ का विषय है कि जिस छत्तीसगढ़ी ने हिंदी साहित्य को बड़े-बड़े यशस्वी लेखक दिए, उसने एक भी ऐसा सेवक उत्पन्न न किया जो उसके अभाव की पूर्ति करता, उसके गीतों को एकत्रित करता। बाहरी साहित्यिकों द्वारा भी यह गरीब प्रदेश उपेक्षित रहा है। भला इसमें आकर्षण ही क्या है! काश्मीर असीम सौन्दर्य युक्त है, पंजाब धन-धान्य पूर्ण है, ब्रज-भूमि में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने क्रीड़ा की है। और छत्तीसगढ़ में क्या है? यहाँ हैं कृष शरीर-हड्डियों के पुतले गरीब किसान, जिनकी औसत आमदनी डेढ़ पैसा प्रति दिन है। पर खोजनेवालों को उनके हृदय में भी रस मिल सकता था। किन्तु किसी ने शायद प्रयत्न ही नहीं किया।

—(डॉ०) श्यामाचरन दुबे

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

| दिनांक Date | उधारकर्ता की संख्या Borrower's No. | दिनांक Date | उधारकर्ता की संख्या Borrower's No. |
|---|---|---|---|
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |
| | | | |

रहा
जाने
प्रादि
ाकृष्ट
जन-
ा भी
नहीं
होना
सकते
ज्ञान—
नी से
यों से
वेनम्र
ानिक
संक-
प्रति
वेदी

# हमारे सहायक

[ हिन्दी जनपदीय परिषद् को जिन महानुभावों ने कृपा करके आर्थिक सहायता दी, उनका आभार मानते हुए उनकी सूची यहाँ प्रकाशित की जा रही है।

—मन्त्री ]

२५००) श्री सेठ राम बाबूलाल, हाथरस

५

५

२

२



सम्पादक )

शारदामुद्रण,